विषय-सूची

श्रीहरिः

आर्द्रा

हूक

उस दिवस तैयार मैं ज्यों ही हुआ
कार्य-वश अन्यत्र जाने के लिए ,
आ गई झट से रमा मेरे निकट ;
लिपट कर मुझसे खड़ी वह हो गई ।
हँस उठा मैं गोद में लेकर उसे ,
चूम कर वह मंजु-मुख, बिखरी लटें
ठीक कर ।—

"मै जा रहा हूँ काम से ;
हो रही है देर बेटी, रोक मत।"
हँस उठी वह,—"मै चलूँगी साथ ही ;
कह दिया था—ले चलोगे तुम मुझे।"
"क्या करेगी तू भला बेटी, वहाँ ?
जो बता वह वस्तु ला दूँगा तुझे।"
"आज मुन्नी ने गिरा कर जोर से—
तोड़ दी है खेल को मेरी सखी।"
उड़ गई उसकी हँसी यह याद कर।
"तो हुआ क्या हर्ज, उससे भी भली
और ला दूगा सखी तेरे लिए।"
खिल गई वह फिर;—शरद की शशि-कला
एक क्षण घिरकर किसी घन-खण्ड से ,
हँस उठी तत्काल !—झट उसने कहा—
"तो चलो जल्दी चलें, अपनी सखी
अब न मुन्नी को दिखाऊँगी कभी !"

है बड़ी मुश्किल ! मनाऊँ किस तरह ,

क्या करूँ ?—"हाँ, दाम भी है पास कुछ ?
जायगी यों ही कि, दामों के विना ,
चढ़ सकेगी किस तरह तू रेल पर ?"
सीप, घोंघे, घुँघचियों के बीच में
एक पैसा भी कहीं पर था छिपा ;
खोज कर उसने निकाला जेब से ,
और मेरे हाथ पर रख कर उसे
हँस पड़ी वह !—

"किन्तु क्या कपड़े यही
पहन कर मैले-कुचैले जायगी ?"
उतर गोदी से पड़ी तत्काल वह ;—
"देखना बापू, अभी जाना न तुम ;
मैं पहन आऊँ नये कपड़े अभी।"
शीघ्रता के साथ यह कहती हुई
दौड़ कर भीतर गई वह। द्वार से
लग्न उसकी माँ खड़ी थी ओट में।
पकड़ अञ्चल-छोर, उसको खींच कर

ले गई जल्दी मचाकर जल्द वह ।

इधर विस्तर-ट्रंक सिर पर लाद कर
पास ही नौकर खड़ा था व्यग्र-सा ।
बोझ अपना साध कर उसने कहा—
"हो रही है देर बाबूजी, बहुत ।"
ऐं, घड़ी में हो गये है चार ये !
तो न गाड़ी मिल सकेगी आज क्या ?
"जल्द तू तो चल, खड़ा है क्यो अरे !"
तनिक मैने बिगड़ कर उससे कहा ;
बढ़ गया मै और उसके साथ ही !

❀ ❀ ❀ ❀

दो दिनो के बाद अपना काम कर ,
जिस समय घर लौटने को मै हुआ ,
मेघ छाये थे गगन में सघनतर ,—
कड़क उठते थे अचानक जो कभी ।
वायु ने अपने प्रभञ्जन वेग से
तोड़ डाले थे सहस्रो दीर्घ द्रुम ।

क्या इसीसे हो रहा था स्तब्ध वह ,
सोच कर अपनी भयंकर क्रूरता !
रात्रि ने घन-तिमिर चादर डाल कर
विपुल वसुधा को छिपा-सा था लिया ।
दो दिनों तक कार्य के गुरु-भार ने
दाब-सी रक्खी रमा की बात थी ।
आज मेरी गुप्त अन्तर्वेदना
हो रही थी व्याप्त सारे विश्व में ।
काँप एकाएक तिमिराच्छन्न तरु
अश्रु-से टप-टप गिराते थे कभी ।
किन्तु मेरा नेत्र-जल किस दाह से
हो गया था शुष्क ! चढ़कर रेल पर
सोचता क्या क्या रहा मै मार्ग में ।
रात के बारह बजे घर पहुँच कर
सुप्त पाऊँगा रमा को । भोर जब
जाग एकाएक देखेगी मुझे ,
क्या कहेगी, और मै भी किस तरह
क्या कहूँगा, शान्त होगी या नहीं ?

किन्तु घर आकर अरे यह क्या सुना—
था न मैं तैयार हा! जिसके लिए।
हो गई है शान्त बेटी आज ही
सर्वदा को! अब कहेगी कुछ न वह,
उलहना देगी न रोवेगी कभी।
हृदय की गति आज एकाएक रुक
ले गई उसको कहाँ, किस लोक में,
कौन गति से, किस अपरिचित ठौर पर!
रात्रि थी, पर हाय! ऐसी सुप्ति की
स्वप्न में भी तो न थी सम्भावना।
ले गया तुझको न था मैं साथ में
तो अकेली ही गई क्या रूठ कर;
छोड़ माँ को भी। कहाँ पाऊँ तुझे;
अब करूँ किससे क्षमा की प्रार्थना,
दोष जो गुरुतर हुआ है और भी?
हाय! वह तेरी 'सखी' भी भूल कर
ला सका हूँ मैं नहीं; किससे कहूँ?
वह 'सखी' लाता कहीं, तो गोद में

रख उसे ही आज पा जाता तुझे !
जन्म भर उसको बचाकर काल से ,
काल से भी छीन कुछ लेता तुझे !
धधकती रह, जागती रह हूक तू ,
दग्ध इन वक्षस्थलो में रात-दिन ;
ले रही है शान्ति तेरे दाह में
हाय वह मेरी 'सखी,' मेरी रमा !

माघ कृष्ण
५-'८२

प्रयाणोन्मुखी

कह चुकी मैं,—ठीक, हूँ, अच्छी तरह ;
हो रहा है रुद्ध मेरा कण्ठ यह ,
क्या कहूँ अब और—

लो, चल ही दिये !
किस तरह हो,—पूछने भर के लिये
हो गये इस दीर्घ दिन में एक वार ,
टालने को विषम-व्याधि किसी प्रकार ।
क्या करोगे अब ठहरकर तुम यहाँ ,
शुष्कता है और गत-सौरभ जहाँ ?
ठहरने को हूँ नहीं मैं आप ही ;
हो रही हूँ आप अपना पाप ही ।
किन्तु तुम भी हो यही क्या जानते ,
हाय ! तुम—तुम भी यही क्या मानते ,—

रोग मेरा है बहाना-मात्र यह ?
हो रहा है झूठ ही तो गात्र यह
अस्थिमय कङ्काल ?—यह उबटन नया
पीत वर्ण, शरीर पर पोता गया ?
कोटरो में घुस गये है ये नयन ;
है इन्हें भी शोक कुछ ? रे व्यग्र मन ,
धैर्य्य धर, विचलित न हो, तू शान्त हो ;
दुःख यो पहुँचा न जीवन-कान्त को ।
गुरुजनों के सामने वे किस प्रकार ,
प्रकट कर दें आन्तरिक उच्छ्वास-प्यार ,
छोड़ लज्जा-धर्म । प्रियतर प्रेम यह
घोर घूँघट डाल, वधुओ की तरह
गुप्त रखना ही यहाँ पर है विधेय
सर्वदा सर्वत्र । वे यह प्रेम प्रेय
छोड़ दे किस भाँति शत-शत दृष्टि में ,
व्यङ्ग्य की, उपहास की बहु वृष्टि में
वज्र-सा करते हुए !—दूँगी न अब
उलहना कोई, करूँगी सह्य सब

यन्त्रणाएँ; अब चिकित्सा के निमित्त
मैं उन्हें होने न दूँगी खिन्न-चित्त।
क्या करेगा वैद्य अब आकर भला,
मृत्यु ने जब आ दबाया है गला।

आज एकाएक जाने के समय,
हो उठी है यह मही माधुर्य्य-मय
किस करुण-रस से! सुनीलाकाश भी
उतर कर क्या आगया है पास ही!
है विदा-सी आज बेटी की, तभी
भेंट करने के लिए विह्वल सभी
दीख पड़ते खेत, पथ, प्रान्तर, पहाड़;
इस झरोखे के किवाड़ों को उखाड़
सब घुसा-सा चाहते भीतर यहाँ!
मेंड़ पर वह गाय बैठी है वहाँ,
शान्त, नीरव, दूब चरना छोड़ कर।
वृक्ष के नीचे, वहाँ उस मोड़ पर
है खड़ा वह वत्स धूसर रङ्ग का;

भूल कुछ वह है गया क्या ? सङ्ग का
गोप-बालक दूर धीमी चाल से
चल रहा है दीर्घ वट की डाल से
उड़ गया वह कौन खग !

जब उस दिवस ,
विकल माँ ने दीनता-पूर्वक, विवश ,
डूब गुरु-गम्भीर अतल-स्नेह में ,
था मुझे भेजा यहाँ इस गेह में ,
अश्रु तब जो इन दृगों से थे चुए ,
जान पड़ते है नहीं सूखे हुए
आज भी वे। आ यहाँ इस धाम में ,
शक्ति-भर संलग्न रह निज काम में ,
जो किया है, ज्ञात होता है अपूर्ण ,
और चलना पड़ रहा इस भाँति तूर्ण।
कार्य शत-शत आज मेरी ओर ताक ,
ले रहे अन्तिम-विदा होकर अवाक।
बस, यही सन्ताप लेकर मै चली।

यदि किसी आमोद से हृदय-स्थली
पूर्ण विह्वल हो उठी हो एक बार,
तो उसी आनन्द का पुण्योपहार
आज हो माता धरित्री के निमित्त।
एक क्षण को भी कहीं वह मञ्जु वित्त,
स्वजन-परिजन के अतुल उल्लास में
डूबकर छा जाय निखिलाकाश में,
तो सभी कुछ आज पा जाऊँ अभी;
प्राप्य अपना साथ ले जाऊँ सभी।

याद आता है नहीं, कब जानकर,
दुख किसीको है दिया हठ ठानकर।
हो गई होंगी तदपि त्रुटियाँ अनेक;
भान भी जिनका नहीं मन में कुछेक।
उन प्रमादों के कुटिल-कण्टक कढ़े
गेह में यदि हों यहाँ फैले पड़े,
साथ ही मेरे सभी जल जायँ वे;
बाद मेरे, फिर न चुभने पायँ वे

पूज्य स्वजनों के मृदुल हृद्धाम में ;
हो न फिर पीड़क किसी भी काम मे ।

कौन जानें, किस नगर, किस गेह में ,
लालिता माता-पिता के स्नेह में ,
भाग्यवन्ती रूपसी वह है कहाँ ,
आयगी मेरे अनन्तर जो यहाँ ;
हृदयधन का हृदय हरषाती हुई ,
दीप्तिमय नव-दीप्ति बरसाती हुई ।
चाहती हूँ, तू सुखी हो हे बहन !
शोक यदि छा जाय इस घर में गहन ,
तो उसे तू छिन्न कर देगी स्वयं ;
गुप्त तम भी शीघ्र हर लेगी स्वयं ।

आज स्वामी आयँगे अब जिस समय ,
त्याग कर सम्पूर्ण चिन्ता, क्लेश, भय ,
मौन रह, कुछ दूसरे ही भाव से
उन पदों पर मैं पड़ूगी चाव से ;

आज का वह स्पर्श मेरा हो न लीन
आज के ही दिन,—रहे वह चिर नवीन !
वे न जान सके, तदपि न होकर अभंग ,
वह सदा सेवन करे वह पुण्य संग ।
यदि किसी मधु-मास के गुञ्जार में ,
सजल-सावन के सरस-सञ्चार में ,
जाग वह सहसा उन्हें कर दे विकल ,
विचल से हो जायँ बस, वे एक पल ;
हे बहन, तो तू क्षमा करना मुझे ;
सहन करना ही पड़ेगा यह तुझे !

❀ ❀ ❀ ❀

किसलिए ये आज इतने वैद्य जन ,
पड़ गया अवसन्न जब सब तन-बदन ?
अब सभीके सामने हो छोड़ लाज ,
रो रहे हो किस लिए हे नाथ, आज ?
चल चुकी हूँ, कोटि-कोटि प्रणाम है ,
रुँध गया है कण्ठ, पूर्ण विराम है ।

माघ कृष्ण ८–'८२

डाकू

रचे जाते थे बहु षड्यन्त्र ,
रह सकूँ जिसमे मै न स्वतन्त्र ।
किन्तु दीवारो मे ही बन्द
नहीं था मेरा घर निष्पन्द ।
खोह, गिरि-गुहा, विजन वन, खेत ,
बने थे मेरे विविध निकेत ।
कभी इस ओर, कभी उस ओर ,
हुआ था मै चल-लक्ष्य कठोर !

डालना था डाका उस रोज ;
हो चुका था सन्ध्या का भोज ।

ठीक कर कर अपने हथियार ,
सभी हम बैठे थे तैयार ।
तुम्हींमें से धर्मध्वज एक ,
ख्यात था जिसका विपुल विवेक ,
कह गया था कितना ही हाल ,—
कहाँ, किसके घर है क्या माल ।
जोहते थे हम तम की बाट ,
कि कब छिपते हैं अब पथ, घाट ।
हमारा निखिल जीवनाकाश ,
खो चुका था सम्पूर्ण प्रकाश ।
इसीसे थी तम की ही चाह ,
उसीमें दीख रही थी राह !
किन्तु हा ! रहने पर भी मौन ,
बोलता है यह भीतर कौन !
झींगुरों की झीनी झनकार ,
कर रही कैसी करुण-पुकार ?
आ रही किसकी, कैसी, याद ?
अरे, असमय का यह अवसाद !

नहीं मैं भूल रहा हूँ आप ;
जगत का पुञ्जीकृत उत्ताप
कर रहा मेरा करुणाह्वान !
अरे तो उठ रे भीरु !

निदान ,
चल पड़े उठकर हम सब लोग
आ गया था निश्चित निशि-योग ।
कहीं पर सिकुड़, कहीं पर फैल ,
गई थी उलटी-सीधी गैल ।
उसीके-से बहु चक्कर काट ,
विजन वन पद-शब्दों से पाट ,
चले हम लोग । वहाँ सब ओर
अँधेरा छाया था अति घोर ।
दूर पर पावक-शिखा कुछेक
दीख पड़ती थी एकाएक
और फिर हो जाती थी ओट ।
पहुँचकर उसी दिशा में चोट

हमें करनी थी । सुदृढ़ शरीर
हमारे साथी थे सब वीर ।
चले जाते थे सब चुपचाप ;
सभीसे आगे था मैं आप ।
अग्नि-गर्भा, इस उर-सी मूक ,
लग्न थी कन्धे पर बन्दूक ।
प्रखर शाणित थी जिसकी धार
झूलती थी कटि में तलवार ।

रुके जाकर पुरवे के पास ।
किसी घर में से दीप-प्रकाश
ताकने लगा हमारी ओर ;—
छिपा तम में ज्यों कोई चोर !
निकट ही था वट-वृक्ष विशाल ;
तिमिर से जिसका शाखा-जाल
ज्ञात होता था सघन विशेष ।
अचानक हमको आया देख ,
वहाँ से भागा कोई जीव ।

पतित पत्रो का पुञ्ज अतीव
खड़खड़ा उठा; उसीके सङ्ग
चौक-से पड़े विमौन विहङ्ग।
एक फायर ऊपर को ओर
कर दिया तब मैने घन-घोर।
फटा-सा नीरवता का वक्ष।
उड़े पक्षी फड़ फड़ कर पक्ष।
उन्हीं विहगो-जैसे बेहाल,
गॉव के नर नारी उस काल
त्वरित भागे होगे जी तोड़,
वह छुप जानें को घर छोड़।

हमारे पहले ही वह नाद
ले गया हम सबका संवाद।
गाँव के घाट-बाट मैदान
मिले हमको निर्जन-सुनसान।
तिमिर मे छिपा, पटो में बन्द,
धनी का घर भी था निष्पन्द।

दाग फिर बन्दूकें विकराल ,
तोड़ अर्गल-कपाट तत्काल ,
गेह में रक्खा हमने पैर ।
नहीं थी आज किसीकी खैर ,
हमें जो मिलता वहाँ समक्ष ।
किन्तु सुनसान पड़ा था कक्ष ।
सङ्गिजन कठिन कुलिश-से टूट ,
घुसे भीतर करने को लूट ।
तेल की कर नीचे तक कीच ,
एक आले के बीचोबीच ,
जल रहा था जो मन्द प्रदीप ,
उसे उसकाया पहुँच समीप ;
और फिर देखी मैंने पौर ;
लिपी थी गोबर से सब ठौर ।
धोतियों के थानों के चित्र
भीत पर चिपके थे सुविचित्र ।
अलगनी के ऊपर कुछ म्लान
सूखते थे गीले परिधान ।

निकट ही खूँटी पर निष्प्राण
टँगा था निश्चल एक कृपाण।
अँगीठी करके धूम्रोद्गार
जनाती थी अपने में सार।
वहीं रक्खा था एक तुरङ्ग
काठ का, सुन्दर, शोभन रङ्ग।
अरे, किसने करुणा के साथ,
फेर कर तुझ पर कोमल हाथ,
दिया है यह रोटी का कौर
यहाँ तेरे मुहँ में! यह और
धर दिया हुक्का भी यों पास,
कि खा चुकने पर मुहँ का ग्रास,
करेगा अभी धूम्र भी पान!
जड़ों को भी ममत्व का दान!
अरे तो क्या करुणा का लेश
कहीं है कुछ कुछ अब भी शेष?

हमारे साथी बारंबार

कर रहे थे भीतर हुंकार।
चीख कर, मानो निज रक्षार्थ,
झंझनाते थे पतित पदार्थ!
किन्तु था उधर न मेरा ध्यान,
न जाने कहाँ, किधर थे कान!
कर रहा था पुलकित यह देह
न जानें किसका सरल-स्नेह!

स्वप्न-सा हुआ अचानक भङ्ग;
थम गई निखिल विचार-तरङ्ग।
रुदन वह किसका करुणासिक्त
सुनाई पड़ा मधुर मृदु-तिक्त!
भेड़ियो से हिरनो-सी ग्रस्त,
एक छोटी लड़की संत्रस्त,
घसीटी जाकर मेरे पास
खड़ी की गई। प्रदीप-प्रकाश
बढ़ा-सा सहसा किसी प्रकार!
कपोलो पर लोचन-जल-धार

हुई झलमल विकीर्ण कर कान्ति ;
रुदन में भी थी कैसी शान्ति !
कूद कर घर पर से चुपचाप ,
छोड़ उसको उसके माँ-बाप
न जाने कहाँ गये थे भाग।
अचानक घन-निद्रा से जाग ,
बालिका ने देखा यह हाल
"बता तू कहाँ गड़ा है माल ?"
कौन ये, पूछ रहे क्या बात ;
डरा-धमका कर, कर आघात ?
पीड़कों को ही दे निज-भार ,
खड़ी थी हा ! वह किसी प्रकार।
सिकुड़ कर,-छोटा कर-निज गात
सह रही थी गुरुतर उत्पात !

अचानक बहुत दिनों की बात
हुई मेरे मन में प्रतिभात।
एक दिन उठकर प्रातःकाल ,

कुर्क देखा अपना सब माल।
अधारी की हँसली तक छीन,
डरा धमका कर उसे अमीन,
पूछता था हो हो कर लाल,—
"बता, यदि कहीं छिपा हो माल!"

उड़ाकर मेरे ऊपर कीच
मुझे कहते फिरते जो नीच,
जरा देखे वे अपनी ओर;—
सुधार्मिकता वह अपनी घोर।
हड़पकर औरों के घर-द्वार,
नहीं लेता जो कभी डकार;
कपट है जिसका कौशल कार्य,
असत् है जिसे सदा अनिवार्य;
एक ही जिसकी छोटी बात
छिपा रखती सौ सौ आघात;
निरन्नों, हतभागों का खून
पिलाता है जिसको कानून;

धान्य-धन तिजोरियों में डाल,
बद्ध रखता जो शान्ति-सुकाल;
वचन से बन कर ऊपर वर्म्म,
घातकायुध का करता कर्म्म;
उसीके घर में एकाएक
हुआ यह कैसा भावोद्रेक!

विकल उस बच्ची को अवलोक,
हृदय को नहीं सका मैं रोक।
अरी बेटी, इतने दिन बाद
तुझे क्या आई मेरी याद?
यहीं तो थी तू तेरे अर्थ
भटकता रहा कहाँ मैं व्यर्थ!

छीनकर उन लोगों से गोद
लिया लड़की को। इतना मोद
अभी तक है इस उर में, आह!
कठिनता से ही अश्रु-प्रवाह

रुक सका ।

कुछ क्षण के उपरान्त
हुआ जब मेरा मन कुछ शान्त ,
बजाकर शीटी एक विशेष ।
दिया मैंने संकेत-निदेश ।
खड़े थे जो जैसे उस काल ,
लूट का माल वहीं पर डाल ,
दौड़ कर आये मेरे पास ।
छोड़ कर झट वह धनिक-निवास ,
चल पड़े हम सब वन की ओर ।
वहाँ था वैसा ही तम घोर ।
उसी तम में करके दल-भङ्ग
छिप गये, जल में यथा तरङ्ग ।

माघ पूर्णिमा
१९८२

नृशंस

१

बाप

यामिनी स्वयं ही जब निद्राक्रान्त ,
हो हो पड़ती थी श्रान्त ,
पास के, पड़ौस के, समस्त घर
द्वार-पट बन्द कर,
रुद्ध कर लेते थे अशान्त दुःख-द्वन्द्व सभी ;
प्रति दिन मैं तभी
लौट कर घर पर आता था ,
जागृत अशान्ति तौ भी हाय ! वहाँ पाता था !

जानकी की माँ को हा ! जताऊँ क्या ,
एक बात बीस बीस बार समझाऊँ क्या ?
कौड़ी भी नहीं है पास ,
ऋण ने किया है ग्रास

तिल तिल स्थान इस गेह का ;
रुधिर-प्रवाह तक अपनी ही देह का
हो चुका है आज ऋणदाता का ;
कैसा अभिशाप है विधाता का !
मरण-समुद्र में भी डूबने न पायगा ,
ऋण यह वंशागत रोग-सम
विषम—
दुरन्त विष छोड़ यहीं जायगा ।

❀ ❀ ❀ ❀

यह बात
क्या मुझे नहीं है ज्ञात,—
हो गई है बेटी पूर्ण बारह बरस की ?
होती कहीं बात यह वश की
पीछे मैं ढकेल देता बारह बरस ये !
तरस तरस के ,
तो क्या मर जाऊँ अब ;
आके यहाँ एक घड़ी सोने भी न पाऊँ अब ?
बाहर चपेट है महाजन की ,

बीत रही अवधि उधार लिये धन की ।
घर में भी बात सुनता हूँ यही ,—
कन्या के विवाह को अवस्था चली जारही ।
किस किस ओर अवलोकूँ मैं ,
किसे किसे निरवधि न होने दूँ, रोकूँ मैं ?

और तो नहीं है कुछ, प्राण हैं हमारे पास ;
लाओ यदि थैली हो तुम्हारे पास ।
बात को ही बात में
कर दूँ विवाह इसी रात मैं ।
या कि बस रोओगी इसी प्रकार ?
मरने को धमकी क्यों बार बार ?
बार बार मुझको खिझाओ नहीं ।
किच किच बन्द करो ,
रुग्ण हो,—तो जाओ मरो !
लड़की भी बाँध के गले से लिये जाओ वहीं ,
जिसमें कि कर सको स्वयं विवाह ,
सोने दो मुझे तो आह !

२

बेटी

माँ क्यो आज दिन भर रोती रहीं,
आँसुओ से अञ्चल भिगोती रहीं ?
जानें हो गई क्या बात,
जान पड़ता है, जागके ही है बिताई रात।
सौगन्धें धराईं, समझाया उन्हें,
बार बार कितना मनाया उन्हें,
त भी एक दाना तक मुहँ में नहीं दिया,
एक घूँट पानी भी नहीं पिया।
मैने कहा,—'मै भी नहीं खाऊँगी;
मैं भी आज भूखी रह जाऊँगी।'
मेरी इस बात ने भी असर नहीं किया।
एकाएक मुझको पकड़के,
छाती से जकड़ के,
मौन रह जाती है,

झरझर आँसू बरसाती है।
मानो मुझे कोई कहीं छीने लिये जाता हो,
कोई दैत्य छापा मारने के लिए आता हो,
गोद मे छिपाना चाहती है क्या इसीसे वे;
त्रस्त-सी किसी से वे ?
बापू ने कही क्या कड़ी कोई बात ?
प्रति रात
मेरे लिए होती है लड़ाई एक।
माँ को भी हुई है टेक।
उनका शरीर शीर्ण
हो गया है रोग से विशेष जीर्ण।
भास, रहा उनको कि देखने न पायँगी
मेरा ब्याह और पहले ही मर जायँगी।
मृत्यु के समीप निज-शय्या पर
कण्टक-समान मुझे मान कर,
घर से ढकेल दिया चाहती विना विलम्ब।
बापू भी निरवलम्ब,
हाय हाय !

कौन-सा करें उपाय !
चूस लिया चिन्ता ने समस्त रस जीवन का ,
सूखी अस्थियों में रहा शेष चिन्ह तन का ।
बेसुध-से रहते है ;
जब तब जाने क्या कहते हैं ?
जागते हुए भी यथा सोते हैं ;
सोकर भी जागते-से होते है !
चौंक कर एकाएक बैठते है खाट पर ,
पोंछते हैं स्वेद-सा ललाट पर ।
तेरहवे वर्ष में मुझे निहार ,
शान्ति नहीं पाते है किसी प्रकार ।
चिन्ता बहुतेरी है ,—
"आई यह तेरही ही मेरी है !"
बापू है स्वयं अधीर ,
पीड़ा है उन्हें गभीर ,—
माँ को यह बात किस भाँति समझाऊँ मै ?
कैसे यह प्रत्यय कराऊँ मैं ,—
व्याह से न होगा मुझे कोई सुख ;

जन्म भर होगा दुख ।
होगा यह कन्या-दान ,
या कि आत्मघात ही महा महान ?
देख अनब्याही मुझे ,
छोड़ेंगे वचन-वाण लोग विष के बुझे ,
करके बुराई घोर ;
किन्तु यहाँ चारो ओर ,
कौन वह है कि जो भलाई भी करै कभी ?
हृदय विदीर्ण करना ही जानते है सभी ।
तो तुम मरौ क्यों आप ,
मुझको बनाके अभिशाप-पाप ?

❀ ❀ ❀ ❀

सुनती हूँ बेच रहे बापू इस गेह को ,
छोड़कर जन्मस्थान के भी सुख-स्नेह को ।
मेरे घर ! मेरे लिए होगा क्या पराया तू ?
छोड़ेगा हमारी मोह-माया तू ?
कितना मै खेली-हँसी-रोई यहाँ ,
घूमी-फिरी, लोटी और सोई यहाँ ,

तेरे इस आँगन में ;
मेरे रोम-रोम तन-मन में
जाग रहा तेरा ही पुनीत-स्पर्श ;
बीते दिन-मास-वर्ष ,
जन्म से ही तेरी मंजु गोद में ,
नित्य महामोद में ।
माँ जब उसार कर सोती थी ,
दोपहरी साँ साँ जब होती थी ,
जन्मभूमि माता तब तेरे ही अञ्चल में ,
सखियों के कान्त कलकल में ,
कितनी मचाई धूम
इधर-उधर घूम ।
जान पड़ता है वह मेरा सभी हर्षोल्लास ,
मेरा एक एक श्वास ,
तूने बचा रक्खा है छिपाकर निलय में ,
अपने हृदय में !
आज तक पाल कर ,
और अब बाहर निकाल कर ,

हमको करेगी दूर ;
होके तू कठोर क्रूर ?
औरो को हमारी भाँति गोद हाय ! लेगी क्या ?
औरो को हमारा प्राप्य देगी क्या ?
दे रही हमे क्या स्थान ,
आज तू अतिथि मान ?
छोड़ना पड़ेगा पान्थशाला-सम क्या तुझे ?
होके तो विमाता दिया मातृ-स्नेह क्यों मुझे ?

सुनती हूँ जीवन की माया छोड़ ,
मृत्यु से हो नाता जोड़
कृष्णा ने पिया था विष जन्मभूमि के लिए ;
प्राण अपने थे दिये ।
मेरी भूमि, मेरे प्राण ही अभीष्ट हैं क्या तुझे ;
फिर तो न छोड़ेगी कभी तू मुझे ?
तब यह कौन-सी बड़ी है बात ।

आज यह माघ की अँधेरी रात ,

अयुत विलोचनो से ताक रही मेरी ओर।
दृष्टि में है कैसी तीक्ष्णता कठोर !
रजनी हे स्नेहमयि, स्नेहकर ,
आज अविराम ओस डाल इस देह पर !
तेरा शीत
आज मुझे विष ही न हो प्रतीत ।
विष मे ही अमृत मिलेगा आज ,
मृत्यु में ही जीवन का सुमन खिलेगा आज !

३

माँ

मेरी जानकी को हाय !
हो गया है सन्निपात कौन-सा करूँ उपाय ?
बेटी, नेत्र खोल, देख मै हूँ कौन ,
कैसी तू पड़ी है मौन ?

तूने अनुरोध क्यों नहीं किया ?
मैंने आज पानी भी नहीं पिया।
अब तक नित्य ही तो खिला-पिला देती थी;
घर का उसार सब आप कर लेती थी।
उड़ती है आँगन में धूल आज।
तेरी बाट जोहता है तेरा काज।
बासन ये मैले है,
अस्तव्यस्त फैले हैं।

जानती थी,—आगया समीप मेरा अन्त अब,
खाट पै गिरूँगी मै तुरन्त अब;
तो तू सिरहाने बैठ मुझको सँभालेगी,
जाग रात रात भर सेवा-व्रत पालेगी
पंखा लिये हाथ मे। मै वार वार रोकूँगी,
तौ भी तुझे खाट पर बैठी अवलोकूँगी।
किन्तु हाय, बेटी तू,
मेरे सामने ही आज खाट पर लेटी तू!

सोचा था, कि इस बार
चैत मे ही तेरा ब्याह करके किसी प्रकार,
तेरे ऋण से मैं मुक्ति पाऊँगी;
मन की समस्त साध पूरी कर जाऊँगी।
तेरे लिए कितनी कड़ाई की;
बार बार उनसे लड़ाई की।
तू ही मुझे आज हरा देगी क्या?
बाप की ही जीत करा देगी क्या?

रात-दिन तुझको था काम काम,
लेती थी न एक क्षण को विराम।
जीवन को पाप जानती थी हा! हमारे लिए;
कार्य के सहस्र बन्धनों में बद्ध-सा किये
रखती थी उसको इसी निमित्त;
नित्य निर्विकार चित्त!
सारी कड़ी बातो को,
शस्त्र के-से घातो को,
रखती थी छिपा कर तू,

(चोटें सह) निज की भी चेतना गँवाके तू।

करके उपेक्षा स्वयं तन की ,
चिन्ता न की शीत की, पवन की।
सरदी में बैठ कर रात को ,
अपने को सौंप दिया आप सन्निपात को।
घोर तम
सन्निपात से भी हाय, निकले कठोर हम !

देख, ते बापू दवा तेरे लिए लाये हैं ;
तेरे लिए आज किस भाँति अकुलाये हैं।
इसको न तू यों फेंक ,
अपने गले से दवा मेरे लिए पी ले नेंक।

४

बाप

वय से भी है समृद्ध ,
जान पड़ता है वह मेरे पिता से भी वृद्ध ।
करके दहेज का पिनाक-भङ्ग ,
मेरी जानकी का वर होगा वह एक संग !

मेरे लिए चिन्तित विशेष सभी रहते ;
'अवसर आ गया, न छोड़ो'—लोग कहते ।
जीते रहें आप लोग ,
छोड़ मैं सकूँगा किस भाँति वह स्वर्ण-योग !
प्राप्त योग होगा भला ऐसा कहाँ ,
घोटूँ अनायास घोर शत्रु का गला जहाँ !

बेटी, कौन शत्रुता थी तेरी हाय ! मुझसे ,
ऐसा प्रतिशोध जो मिला है मुझे तुझसे ,

करके सहानुभूति तेरे हेतु ,
लोग फहराते है दया के केतु ।
करके दया का पात्र ,
दग्ध करते है यह मेरा गात्र ।
मेरे मान-गौरव की धूल पर ,
तीक्ष्ण शूल हूल कर ,
करते खड़ा है निज प्रखर दया का खम्भ ,
हाय रे कठोर दम्भ !

घातक-समाज-कंस ,
सौंप दूँ स्वयं मै तुझे कन्या यह रे नृशंस ?
आप ही इसे मै मार डालूँगा ।
तेरी यह आज्ञा मै न पालूँगा ।
प्रति दिन तीव्र भर्त्सना के संग
निर्दय अनादरो से भंग कर अन्तरंग ,
क्रूर कटु बातो में मिलाके विष है दिया ,
कन्या ने सदैव चुपचाप उसे है पी लिया ।
राजकन्या कृष्णा ने पिया था विष एक बार ,

मेरी जानकी ने पिया रात दिन लगातार।
मेरा सभी अत्याचार
शिशु के उपद्रव-सा शान्त रहके सहा।
आँखों से नीर जो कभी बहा,
व्यक्त नहीं होने दिया उसको;
फेर मुहँ काम का वहाना कर,
मेरा अनजाना कर,
पोंछ लिया उसको।
आज वही गूढ़ विष सन्निपात-वेष में,
प्रकट हुआ है यह शेष में।
रक्षा का करूँ मै यत्न वेटी किस भाँति आज,
जानें कहाँ खो गई है मेरी लाज।
मृत्यु से बचा के तुझे,
कौन लाभ होगा मुझे;
छीन लेगा शीघ्र ही तुझे समाज।

सचमुच आज विष तुझको पिलाऊँगा;
मरने ही मात्र को न मै तुझे जिलाऊँगा!

औषधि मे ऐसा कुछ तत्व मै मिलाऊँगा ,
तुझको बचाले जो ;
सर्वदा को रोग-शोक टाले जो !

❀ ❀ ❀ ❀

आ गया है अन्त काल !
शान्त हो गई है देह, बन्द श्वास की है चाल ।
बेटी चली जा तू वहाँ ,
आना है मुझे भी जहाँ ।
माँग सका, मागूँगा क्षमा तो वहीं तुझसे ।
जाती न जो पूर्व ही तू मुझसे ,
कौन भला मेरी देख-भाल वहाँ करता ?
कौन यह मेरा मनस्ताप वहाँ हरता ?
एक क्षण को ही इस पाप-ठौर ,
रुक रुक बेटी और !
सुनती तो जा तू,—नहीं देर मै लगाऊँगा ,
आऊँगा अवश्य, शीघ्र-शीघ्रतर-आऊँगा !

फाल्गुन कृष्ण
१-'८६

एक फूल की चाह

[१]

उद्वेलित कर अश्रु-राशियाँ,
हृदय-चिताएँ धधकाकर,
महा महामारी प्रचण्ड हो
फैल रही थी इधर उधर।
क्षीण-कण्ठ मृतवत्साओं का
करुण-रुदन दुर्दान्त नितान्त,
भरे हुए था निज कृश रव में
हाहाकार अपार अशान्त।
बहुत रोकता था सुखिया को,
'न जा खेलने को बाहर',
नहीं खेलना रुकता उसका
नहीं ठहरती वह पल भर।
मेरा हृदय काँप उठता था,
बाहर गई निहार उसे;

यही मनाता था कि बचा लूँ
किसी भाँति इस बार उसे।
भीतर जो डर रहा छिपाये,
हाय! वही बाहर आया।
एक दिवस सुखिया के तनु को
ताप-तप्त मैंने पाया।
ज्वर में विह्वल हो बोली वह,
क्या जानूँ किस डर से डर,—
मुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल ही दो लाकर।

[२]

बेटी, बतला तो तू मुझको
किसने तुझे बताया यह;
किसके द्वारा, कैसे तूने
भाव अचानक पाया यह?
मैं अछूत हूँ, मुझे कौन हा!
मन्दिर में जाने देगा;

देवी का प्रसाद ही मुझको
कौन यहाँ लाने देगा ?
बार बार, फिर फिर, तेरा हठ !
पूरा इसे करूँ कैसे ;
किससे कहूँ, कौन बतलावे,
धीरज हाय ! धरूँ कैसे ?
कोमल कुसुम-समान देह हा !
हुई तप्त अंगार-मयी ;
प्रति पल बढ़ती ही जाती है
विपुल वेदना, व्यथा नई ।
मैंने कई फूल ला लाकर
रक्खे उसकी खटिया पर ;
सोचा,—शान्त करूँ मैं उसको,
किसी तरह तो बहला कर ।
तोड़-मोड़ वे फूल फेंक सब
बोल उठी वह चिल्ला कर—
मुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल ही दो लाकर !

[२]

क्रमशः कण्ठ क्षीण हो आया,
शिथिल हुए अवयव सारे,
बैठा था नव-नव उपाय की
चिन्ता में मैं मनमारे।
जान सका न प्रभात सजग से
हुई अलस कब दोपहरी,
स्वर्ण-घनों में कब रवि डूबा,
कब आई सन्ध्या गहरी।
सभी ओर दिखलाई दी बस,
अन्धकार की ही छाया,
छोटी-सी बच्ची को ग्रसने
कितना बड़ा तिमिर आया!
ऊपर विस्तृत महाकाश में
जलते-से अंगारों से,
झुलसी-सी जाती थी आँखें
जगमग जगते तारों से।
देख रहा था—जो सुस्थिर हो
नहीं बैठती थी क्षण भर,

हाय ! वही चुपचाप पड़ी थी
अटल शान्ति-सी धारण कर।
सुनना वही चाहता था मैं
उसे स्वयं ही उकसा कर—
मुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल ही दो लाकर !

[४]

हे मातः, हे शिवे, अम्बिके,
तप्त ताप यह शान्त करो;
निपराध छोटी बच्ची यह,
हाय ! न मुझसे इसे हरो !
काली कान्ति पड़ गई इसकी,
हँसी न जाने गई कहाँ,
अटक रहे हैं प्राण क्षीण तर
साँसों में ही हाय यहाँ !
अरी निष्ठुरे, बढ़ी हुई ही
है यदि तेरी तृषा नितान्त,

तो कर ले तू उसे इसी क्षण
मेरे इस जीवन से शान्त !
मै अछूत हूँ तो क्या मेरी
विनती भी है हाय ! अपूत ,
उससे भी क्या लग जावेगी
तेरे श्री-मन्दिर को छूत ?
किसे ज्ञात, मेरी विनती वह
पहुँची अथवा नहीं वहाँ ,
उस अपार सागर का दीखा
पार न मुझको कहीं वहाँ ।
अरी रात, क्या अक्षयता का
पट्टा लेकर आई तू ,
आकर अखिल विश्व के ऊपर
प्रलय-घटा-सी छाई तू !
पग भर भी न बढ़ी आगे तू
डट कर बैठ गई ऐसी ,
क्या न अरुण-आभा जागेगी ,
सहसा आज विकृति कैसी !

युग के युग-से बीत गये हैं,
तू ज्यों की त्यों है लेटी,
पड़ी एक करवट कब से तू,
बोल, बोल, कुछ तो बेटी!
वह चुप थी, पर गूँज रही थी
उसकी गिरा गगन-भर भर,—
'मुझको देवी के प्रसाद का—
एक फूल तुम दो लाकर!'

[५]

"कुछ हो देवी के प्रसाद का
एक फूल तो लाऊँगा;
हो तो प्रातःकाल, शीघ्र ही
मन्दिर को मैं जाऊँगा।
तुझ पर देवी की छाया है,
और इष्ट है यही तुझे;
देखूँ देवी के मन्दिर में
रोक सकेगा कौन मुझे।"

मेरे इस निश्चल निश्चय ने
झट-से हृदय किया हलका ;
ऊपर देखा,—अरुण राग से
रञ्जित भाल नभस्थल का !
झड़-सी गई तारकावलि थी
म्लान और निष्प्रभ होकर ;
निकल पड़े थे खग नीड़ों से
मानो सुध-बुध-सी खो कर।
रस्सी डोल हाथ में लेकर
निकट कुएँ पर जा जल खींच ,
मैंने स्नान किया शीतल हो ,
सलिल-सुधा से तनु को सींच।
उज्वल वस्त्र पहन घर आकर
अशुचि ग्लानि सब धो डाली।
चन्दन-पुष्प-कपूर-धूप से
सजली पूजा की थाली।
सुखिया के सिरहाने जाकर
मैं धीरे से खड़ा हुआ।

आँखें झँपी हुई थीं, मुख भी
मुरझा-सा था पड़ा हुआ ।
मैंने चाहा,—उसे चूम लूँ ,
किन्तु अशुचिता से डर कर
अपने वस्त्र सँभाल, सिकुड़कर
खड़ा रहा कुछ दूरी पर ।
वह कुछ कुछ मुसकाई सहसा ,
जानें किन स्वप्नों में लग्न ,
उसकी वह मुसकाहट भी हा !
कर न सकी मुझको मुद-मग्न ।
अक्षम मुझे समझकर क्या तू
हँसी कर रही है मेरी ?
बेटी, जाता हूँ मन्दिर मैं
आज्ञा यही समझ तेरी ।
उसने नहीं कहा कुछ, मैं ही
बोल उठा तब धीरज धर ,—
तुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल तो दूँ लाकर !

[६]

ऊँचे शैल-शिखर के ऊपर
मन्दिर था विस्तीर्ण विशाल ;
स्वर्ण-कलश सरसिज विहसित थे
पाकर समुदित रवि-कर-जाल ।
परिक्रमा-सी कर मन्दिर को ,
ऊपर से आकर झर झर ,
वहाँ एक झरना झरता था
कल कल मधुर गान कर कर ।
पुष्प-हार-सा जँचता था वह
मन्दिर के श्री चरणो में ,
त्रुटि न दीखती थी भीतर भी
पूजा के उपकरणो मे ।
दीप-दूध से आमोदित था
मन्दिर का आँगन सारा ;
गूँज रही थी भीतर-बाहर
मुखरित उत्सव की धारा ।

भक्त-वृन्द मृदु-मधुर कण्ठ से
　　गाते थे सभक्ति मुद-मय ,—
'पतित-तारिणी पाप-हारिणी ,
　　माता, तेरी जय-जय-जय !'
'पतित-तारिणी, तेरी जय जय'—
　　मेरे मुख से भी निकला ,
विना बढ़े ही मैं आगे को
　　जानें किस बल से ढिकला !
माता, तू इतनी सुन्दर है ,
　　नहीं जानता था मैं यह ;
माँ के पास रोक बच्चों को ,
　　कैसी विधि यह तू ही कह ?
आज स्वयं अपने निदेश से
　　तूने मुझे बुलाया है ;
तभी आज पापी अछूत यह
　　श्री-चरणों तक आया है !
मेरे दीप-फूल लेकर वे
　　अम्बा को अर्पित करके

दिया पुजारी ने प्रसाद जब
आगे को अञ्जलि भरके,
भूल गया उसका लेना झट,
परम लाभ-सा पाकर मैं।
सोचा,—बेटी को माँ के ये
पुण्य-पुष्प दूँ जाकर मैं।

[७]

सिंह पौर तक भी आँगन से
नहीं पहुँचने मैं पाया,
सहसा यह सुन पड़ा कि—"कैसे
यह अछूत भीतर आया?
पकड़ो, देखो भाग न जावे,
बना धूर्त यह है कैसा;
साफ-स्वच्छ परिधान किये है,
भले मानुषों के जैसा!
पापी ने मन्दिर में घुसकर
किया अनर्थ बड़ा भारी;

कलुषित कर दी है मन्दिर की
चिरकालिक शुचिता सारी।"
ऐं, क्या मेरा कलुष बड़ा है
देवी की गरिमा से भी;
किसी बात में हूँ मैं आगे
माता की महिमा के भी?
माँ के भक्त हुए तुम कैसे,
करके यह विचार खोटा?
माँ के सम्मुख ही माँ का तुम
गौरव करते हो छोटा!
कुछ न सुना भक्तों ने, झटसे
मुझे घेर कर पकड़ लिया;
मार मार कर मुक्के-घूँसे
धम-से नीचे गिरा दिया!
मेरे हाथों से प्रसाद भी
बिखर गया हा! सब का सब,
हाय! अभागी बेटी तुझ तक
कैसे पहुँच सके यह अब।

मैंने उनसे कहा,—दण्ड दो
　　मुझे मार कर, ठुकरा कर,
बस यह एक फूल कोई भी
　　दो बच्ची को ले जाकर।

[८]

न्यायालय ले गये मुझे वे,
　　सात दिवस का दण्ड-विधान
मुझको हुआ; हुआ था मुझसे
　　देवों का महान अपमान!
मैंने स्वीकृत किया दण्ड वह
　　शीश झुकाकर चुप ही रह;
उस असीम अभियोग, दोष का
　　क्या उत्तर देता, क्या कह?
सात रोज ही रहा जेल में
　　या कि वहाँ सदियाँ बीतीं,
अविश्रान्त बरसा करके भी
　　आँखे तनिक नहीं रीतीं।

कैदी कहते—"अरे मूर्ख, क्यों
ममता थी मन्दिर पर ही ?
पास वहाँ मसजिद भी तो थी
दूर न था गिरजाघर भी।"
कैसे उनको समझाता मैं,
वहाँ गया था क्या सुख से ;
देवी का प्रसाद चाहा था
बेटी ने अपने मुख से।

दण्ड भोग कर जब मैं छूटा,
पैर न उठते थे घर को ;
पीछे ठेल रहा था कोई
भय-जर्जर तनु पञ्जर को।
पहले की-सी लेने मुझको
नहीं दौड़ कर आई वह ;
उलझी हुई खेल में ही हा !
अबकी दी न दिखाई वह।

उसे देखने मरघट को ही
गया दौड़ता हुआ वहाँ ,—
मेरे परिचित बन्धु प्रथम ही
फूँक चुके थे उसे जहाँ।
बुझी पड़ी थी चिता वहाँ पर
छाती धधक उठी मेरी ,
हाय ! फूल-सी कोमल बच्ची
हुई राख की थी ढेरी !
अन्तिम बार गोद मे बेटी ,
तुझको ले न सका मैं हा !
एक फूल माँ का प्रसाद भी
तुझको दे न सका मैं हा !
वह प्रसाद देकर ही तुझको
जेल न जा सकता था क्या ?
तनिक ठहर ही सब जन्मो के
दण्ड न पा सकता था क्या ?
बेटी की छोटी इच्छा वह
कहीं पूर्ण मैं कर देता ,

तो क्या अरे दैव, त्रिभुवन का
सभी विभव मै हर लेता ?
यहीं चिता पर धर दूंगा मैं ,
—कोई अरे सुनो, वर दो ,—
मुझको देवी के प्रसाद का
एक फूल ही लाकर दो !

माघ कृष्ण
२–'८३

अग्नि-परीक्षा

हिन्दुओं का कीर्तन-जुलूस राज-पथ पर
गान-वाद्य कर कर,
जाता था उछाह से,
एकाएक मसजिद की राह से
पत्थर गिरा के उसे रोका मुसलमानों ने।
आपस में एक दूसरे के सिर फोड़कर,
गर्दनें मरोड़कर,
धर्म के उबार लिये प्राण धर्म-प्राणों ने!

शोणित के सिञ्चन से और भी धधक उठी
विपुल-विरोध-वह्नि, वेग से भभक उठी।
जन-रव-हीन हाट-बाटों-बीच चारों ओर
भीतर छिपाकर अशान्ति घोर,

घोर शान्ति छा गई ;
यामिनी दिवा के यहाँ आ गई !

भीमाकार धरके ,
आकर यथार्थ ही निशा ने घर घर में ,
निखिल नगर में ,
स्तब्धता बढ़ा दी और अन्धकार करके ।

भीतर की साँकल से करके किवाड़ बन्द ,
परिचय-हीन किसी भय से
शङ्कित हृदय से ,
लेटे थे गुलाबचन्द ।
आहट-सी सुन के वे एकाएक चौंक पड़े ;
हो गये तुरन्त खड़े ;
पास पड़ी पत्नी को उठा दिया ;
दीप उसकाकर प्रकाश भी सचेत किया ।
तब तक बाहर के दुस्तर प्रहार से
रण के सिपाही-सम ,

दोनो ही किवाड़ धराशायी हुए। एक दम
चार छै लठैत आ घुसे अरुद्ध द्वार से।
आके एक झोका उसी राह से पवन का
दीपक बुझा गया भवन का।
आ डटा अँधेरा क्या सदा के लिए घर में
एक पलभर में!

होने पर मूर्च्छा भङ्ग,
घर मे गुलाब ने निहारा और घोर रङ्ग
घोरतम तम का।
गुण्डपन गुण्डो का प्रथम का,
कुछ कुछ आया याद।
लज्जा-घृणा-मिश्रित महा विषाद
फैल गया तीव्र-विष-तुल्य सर्व देह में।
घुस कर नीचाधम गेह मे
डाका डाल करके,
ले गये सुभद्रा को न जाने कहाँ हरके।
जागृत विचार-शक्ति मारने लगी कशा,—

जाने कहाँ कैसी दशा
होगी हाय ! उसकी ।
आर्त-गिरा निस्सहाय उसकी
करुण अधीर बड़ी ,
जाने किस दूर से त्रियामा का सनाका भेद ,
भग्न उर वार वार छेद छेद ,
चारो ओर गूँजती सुनाई पड़ी ।
तम में ही सम्मुख-सा देखने लगे वे वहाँ ,—
जाने कहाँ
लूट रहे हैं सर्वस्व नारी का निकृष्ट नीच ,
डाल उसे जाने किस दुस्तर नरक-बीच ।
सिहर उठे वे नेत्र मींच के ;
तौ भी उन्हें फिर फिर खींच के
कोई वही दृश्य वार वार दिखलाने लगा ;
काँटे-से चुभाने लगा ।
रोने लगे होकर विकल वे ,
खोकर समस्त धैर्य-बल वे ।
सोचने लगे—"कलंक कैसे हा ! मिटाऊँगा ,

कैसे मुहँ लोगो को दिखाऊँगा।
होती जो अभागो न, तो यह दिन आता क्यो,
मृत्यु से भी घोर दुःख पाता क्यो ?"

आँगन के नीम पर बोल उठी कोई खगी,
मधु का बहा के धार,
अर्द्धोत्थिता मञ्जु उषा को पुकार!
बर्छी-सी उन्हे लगी।
जान पड़ा,—"काला मुहँ मात्र देखने के लिए,
हाथ के प्रदीप से प्रकाश किये,
आ रहा प्रभात है;
मेरे लिए हो गई उषा हो घोर रात है!"

दुःखानल दीप्त कर एक संग
फिर से खगी ने किया मौन-भङ्ग।
ऊपर उन्होंने किया ज्यो ही सिर,
कर न सके वे दृष्टि नीची फिर
स्वप्नातीत स्वप्न-सा निहार कर।

द्वार पर

दीख पड़ी उनको सुभद्रा जब सहसा ,
उर में असह-सा
व्याप्त हुआ दुःख, रोष या कि द्वेष ।
रक्खे हुए सन्ध्या का मलीन वेष ,
आई उषा कैसी यह !
तत्कालीन एक मात्र तारका के जैसी वह
दबी हुई-सी थी किसी भार से ।
रोती हुई धोकर धरित्री अश्रु-धार से
उनके पदों के पास जाकर गिरी धड़ाम ।
पीछे को हटे वे कह—"राम, राम !
छूना तू न मुझको ;
हरके मुसलमान ले गये थे तुझको ।"
ज्यों त्यों कर, निज को सँभाल के किसी प्रकार ,
बोली वह झेल के नया प्रहार—
"सत्य कहती हूँ सूर्य-ओर हाथ मैं पसार ,—
धर्म ने ही सङ्कट से मुझको उबार लिया ,
स्पर्श तक पाप ने नहीं किया ।"

क्रम से सुभद्रा ने बताया फिर सारा हाल ।
डाका डाल
कैसे उसे ले गये वे गुन्डे कहाँ ,
और फिर छोड़ उसी बन्द घर-बीच वहीं ,
झट-से चले गये ;
और नये
अल्प श्रम-साध्य किसी डाके के विचार से ;
होकर न तुष्ट उस एक ही शिकार से ।
उसके पदों को साँकलें-सी खोल करके ,
खोल के किवाड़ उस घर के ,
लेकर प्रसन्न प्रभु का प्रसाद ,
दयामयी प्रौढ़ा एक आई कुछ देर बाद ।
बोली वह—"बेटी, भाग जा तू अब ;
जब तक लौट सके वे न सब ।
पाजियों ने मेरा नेक बेटा भी बिगाड़ दिया ;
कैसा यह उसने गुनाह किया !
जी से दुःख है मुझे ,
बेटी, तकलीफ हुई जो तुझे ।"

गद्गद हो, साश्रु, शान्त-स्वर से
पीड़कों के अर्थ क्षमा माँग परमेश्वर से ,
और निज ओर से स्वयं ही क्षमा-दान कर ,
आई थी सुभद्रा निज स्थान पर ।
हो गया पराया वह किन्तु एक उत्तर में—
"ठौर नहीं तेरे लिए घर में ,
चाहे तू स्वयं हो सती ,
पुण्यवती ।
तुझसे बड़ा है धर्म, कैसे मुहँ मोड़ लूँ ,
तेरे लिए कैसे उसे छोड़ दूँ ?"
बोली वह—"किन्तु क्या यही है धर्म ?
पीड़ितो का पीड़न, यही है कर्म ?
राक्षसो के गेह रहीं बद्ध श्रीजनकजा ,
तो भी नहीं राम ने उन्हें तजा ।"
उत्तर मिला कि—"आदिशक्ति जानकी थीं आप ,
कैसे उन्हें छूता पाप ?
आग में भी आँच उन्हे नेक नहीं आई थी ;
वह्नि ने विशुद्धता बताई थी ।"

सहसा सुभद्रा के प्रदीप्त नेत्र जलके
हो गये प्रपूरित अनल से !
सजल घटा में उठी विद्युदग्नि एक संग ,
करके तिमिर-भंग !
देख सके किन्तु न वे स्पष्ट उस अग्नि-ओर ,
दोषी चोर—
तुल्य निज नेत्र नत करके !
बोली यह वाणी मे ज्वलन्त रोष भर के ;—
"अच्छी बात ! वैसी ही परीक्षा अभी दूँगी मै ,
पीछे नहीं हूँगी मै !
तो भी यह इतना कहूँगी मै ;—
मुझ पर जैसा क्रूर तुमने प्रहार किया ,
नारकियो ने भी नहीं वैसा घोर वार किया !"

स्तब्ध-से गुलाबचन्द
रखके कुछेक काल नेत्र बन्द ,
कॉप कर एकाएक जागे जब
जा चुकी सुभद्रा थी सदर्प शीघ्र चाल से ,

जलके असह्य ज्वाल-जाल से ।
उठकर दौड़े तब
लौटा उसे लाने के लिए तुरन्त ।
जागी स्वयं ग्लानि उर में दुरन्त !
"लौट आ, सुभद्रा, तुझे जाने नहीं दूँगा मैं,
घातक विधर्मियों का पातक न लूँगा मैं,
वार कर तुझ पर;
झेलूँगा समाज भी जो चोट करे मुझ पर।"

पास ही पड़ौस में सुनीर-भरा था जो ताल,
करके भी तेज चाल
भरसक,
उसके किनारे तक
जा न सके तबलौं,
जबलौं—
शुद्ध जल देवी ने विशुद्ध स्थान
उसको किया प्रदान,
दूर कर सारा दाह अपने अंक-तल में,

शीतल सुअञ्चल में।

पावक-परीक्षा के निमित्त कह,
सलिल-परीक्षा अरे कैसी यह !

जल लहराता था ;
घाट पर पत्थरो के साथ टकराता था।
रोते थे गुलाबचन्द, मुहँ पै तमाचा मार,
वार वार
पागल समीर कहता था जोर से पुकार—
"नारकियो से भी क्रूर तूने है किया प्रहार !"

फाल्गुन शुक्ल
१–'८२

चोर

मेरे यहाँ दासी, वह थी नई,
नाम था दयामयी।
विधवा अभागी जान,
मैंने उसे घर में दिया था स्थान।
और नौकरों की दया उस पर थी यथेष्ट,—
रहती क्यों काम में सदा सचेष्ट;
काम में जुटे रहो तो काम है बिगड़ता।
कोई यदि व्यर्थ को ही इससे है लड़ता,
फिर भी बुराई नहीं मानती,—
मूर्खा यह बात करना भी नहीं जानती।
सीधी बनती है बस, वाहवाही पाने को;
औरों की बुराई ही जताने को।
तत्व यह मेरे सब नौकरों ने जान लिया;
तब तो स्वजाति से निकाल-सा उसे दिया!

मालकिन यद्यपि न रुष्ट थी,
तो भी न थी तुष्ट भी।
बोली—"इन नौकरो के मारे है नाकोदम।
एक दूसरे से कम
जान नहीं पड़ता।
रात-दिन एक दूसरे से है झगड़ता।
हो रही हूँ चाकरो की चाकरनी
काम है इन्हींकी देख-भाल मात्र करनी!"
बोला मैं—"दयावती को तो क्या कर दूँ मैं दूर?
दृष्टि है उसी पर सभीकी क्रूर।"
बोली उमा उच्च हास्य करके,—
"मालिक हो घर के
उस पै प्रसन्न हैं विशेषतर
तब फिर क्रूर दृष्टि से ही उसे देख कर
उसका बिगाड़ क्या सकेगा कौन?"
बोली फिर रहके कुछेक मौन,—
"चल ही गया है अब खूब विधवा-विवाह;
किन्तु नहीं तुम हो विधुर आह!"

देखा,—किसी काम से दयामयी ,
सामने से जल्दी से चली गई ।
छी ! छी ! उमा, कैसी हँसी ,
उस पर व्यर्थ व्यंग्य जो विपत्ति में फँसी !

दुःख मुझे होता उसे देख के सदा उदास ।
चारों ओर आस-पास
अपने ही आप से उलझती ,
कल-कल नृत्य कर वेगवती
आलोडित हर्षामोद-धारा है ;
दुःखिनी का उर ही सतृष्ण शुष्क सारा है ।
गुञ्जित है चारों ओर जो अपूर्व हर्ष-गान ,
सुनते नहीं हैं हा ! इसीके कान ।
भीतर ही भीतर भभकती ,
उर में विषम-वह्नि-ज्वाला है धधकती ।
ऊर्ध्वगामी उसके धुँवें की राशि ही मलीन ,
मुख यों किये क्या हाय ! कान्तिहीन ?
दिन के प्रदीप की शिखा-समान ,

आग में जलाके प्राण,
पाती नहीं कण भी प्रकाश का;
पाती उपहास, व्यंग्यमात्र आस-पास का।
शंकित-सी चलती है मग में;
मानो पग-पग में,
ठोकरें ही ठोकरें भरी पड़ी।
धीरे से कहती बात, बात कहीं कोई कड़ी
भूल से न मुहँ से निकल जाय,
और गला घोट दे उसीका हाय!
काम में ही रहती सदैव लीन,
दुर्बल करों से कहीं कोई उसे ले न छीन।

एक दिन प्रातःकाल,
गिन्नियों की गड्डी जेब से निकाल
रखने को भेजके उमा के पास,
बाहर गया मैं किसी काम को।
सहकर भूख-प्यास
श्रान्त क्लान्त लौटा जब शाम को,

"गिन्नियाँ थीं कितनीं ?" उमा ने यह प्रश्न किया ;
उत्तर जो मैंने दिया
एक की कमी पड़ी ।
सामने दयावती अधीर भाव से खड़ी ,
सुनकर मेरी बात ,
रोने लगी पाकर कठोर घोर वज्राघात ।
झाड़कर देखी जेब बार बार ,
पा न सका तौ भी वह गिन्नी मैं किसी प्रकार ।
रोती हुई सामने उसे विलोक
रोष मैं सका न रोक ।
मैंने कहा—"जानता था मैं तो तुझे भोली बड़ी ;
दूर हो यहाँ से यहाँ क्यों अड़ी ?"

एकाएक नौकरों में छा गई नई उमङ्ग ;
हँस हँस बातें कर एक दूसरे के सङ्ग ,
जाकर सहर्ष जुटे निज निज काम में
पागये हों मानों वह गिन्नी ही इनाम में ।

चार-पाँच रोज बाद
बैठा था, अकेला काम-काज बिना घर में।
अन्तर के अन्तर में
छाया था न जाने कौन-सा विषाद।
चारो ओर सन्नाटा वहाँ था दोपहर का ;
मानो विश्व भर का
अकथ विषाद उस मूकता में था भरा।
सूर्यातप-खिन्न धरा
मानो कुछ सोचती थी पाकर क्षणावकाश।
अपने ही आप में निमग्न-सा था नीलाकाश।
नीरव इसी प्रकार
लादकर सिर प कलंक-भार,
आती न थी काम पै दयामयी।
याद उसको ही मुझे आगई।

कपड़ों का ढेर किये,
छाँटती उन्हें थी उमा धोबी के यहाँ के लिए,
बैठी हुई आँगन में।

बिजली-सी दौड़ गई मन में ,
एकाएक मुझको झनाका जो सुनाई दिया ।
झाँकने को ऊर्ध्व तनु आगे किया ;—
दीख पड़ी गिन्नी वह !
हो गई थी नीरव न जानें कौन बात कह ,
हँस कर धूप में चमक के ,
मेघ-मुक्त तारा-सी दमक के !
वायु के जरा-से किसी झोंके से रह रह ,
वस्त्र काँपता था चोर के समान ।
पूर्व-घटना का मुझे आ गया तुरन्त ध्यान ।
मैंने इस वस्त्र की ही जेब में प्रथम बार ,
रक्खी थीं गिन्नियाँ सँभाल के ;
किन्तु फिर जीर्ण-सा उसे विचार
उनको निकाल के ,
पलट दिया था अन्य जेब में तुरन्त ही ।
किन्तु यह गिन्नी इसी जेब में छिपी रही ।
रोषानल-दीप्त वह ताक कर मेरी ओर ,
कहती-सी जान पड़ी—"चोर ! चोर !!"

मन को न दे सका मैं तोष आप।
विधवा अभागी का असह्य ताप
करने विदग्ध लगा मेरी देह भर को,
भेजा एक आदमी दयावती के घर को,
चोरी का समस्त वृत्त उसको जताने को;
काम पर फेर उसे लाने को।
आदमी ने लौट कर
मुझको बताया—"नहीं वह तो मिली वहाँ।
छोड़ घर
चली गई जाने कहाँ।"

आज तक खोजके भी मैं न उसे पा सका।
वह है अदोष,—न मैं उसको जता सका।
लाद कर मेरे अपराध की कलंक-कथा,
सह के असह्य व्यथा
जाने किस गुप्त-वास में है कहाँ;
आ भी नहीं सकती है आज वह हाय ! यहाँ।
फाल्गुन शुक्ल ९—'८३

डॉक्टर

१

बैठे बैठे ऊब उठे थे डॉक्टर साहब
बड़ी देर से। उलट-पलट विज्ञापन भी सब
देख चुके जब, वहीं मेज पर मुहँ बिगाड़ कर
पटक दिया अखबार। हाथ से धूल झाड़ कर
ली फिर एक किताब। खोलकर इधर उधर से
लौट-पलट कर, उसे बन्द कर, कुर्सी पर से
तिरछे होकर, देह उठाकर झाँके बाहर;
फिर ज्यों के त्यों बैठ गये मस्तक कुञ्चित कर।
नौकर जाता हुआ सामने देख अचानक
बोले उससे,—"कहाँ मर गया था तू अब तक?
कमरा झाड़ा नहीं अरे क्यो?" ठहर ठिठक कर,
बोला वह आश्चर्यचकित,—"मैने तो वह घर
बड़ी देर का साफ कर दिया।" डॉक्टर साहब
फिर भी झुँझला पड़े,—"अरे, तो क्या कुछ भी अब

काम नहीं; क्यो यहीं खड़ा है ?" सिर नीचा कर
धीरे-से वह खिसक गया चुपचाप, निरुत्तर।

वहीं आठ दस कोस दूर पर किसी नगर में,
डॉक्टर के सन्निकट कुटुम्बी जन के घर में
था कुछ उत्सव। वहीं गई थी पत्नी प्यारी,
निज घर की भी तरल कलोत्सव-धारा सारी
लेकर अपने साथ। यहाँ सूने में प्रति पल
डाक्टर का मन विमन हो रहा था अति विह्वल।

२

करके हरहर नाद बेतवा की खर-धारा
बड़े वेग से बही जा रही थी; तट सारा
वही एक ही गान सुन रहा था निर्जन में
तन्मय होकर; सान्ध्य-समीरण के सन सन में
गूँज रही थी गूँज उसीकी। चारु चपल तर

लहरावलियाँ खेल रही थीं उछल उछल कर ,—
क्रीड़ा में जल एक दूसरे पर उछालकर ,
थिरक थिरक कर, थाप लगाकर असम ताल पर।
डॉक्टर साहब एक स्वच्छ पत्थर पर बैठे ,
नदी किनारे भाव-नदी में-से थे पैठे
रेखाएँ कुछ खींच रहे थे बालू पर वे ।
चौंके सहसा शब्द किसी जन का सुनकर वे ।
सम्मुख एक 'गँवार' देखकर नाक सिकोड़ी ;
अरे, यहाँ भी शान्ति नहीं मिल सकती थोड़ी !
बोले,—"कह क्या काम, यहाँ तू कैसा आया ?"
आगन्तुक ने समाचार कह उन्हें सुनाया ।

आध कोस ही दूर खेत पर नदी किनारे ,
करता था वह काम; विकल तृष्णा के मारे
पानी पीने गया; हाथ-मुहँ जल में धोकर
अञ्जलि उसने भरी, हुई त्यों ही दृग्गोचर
बीच धार में देह किसीकी बहती जाती ,
कभी डूबती और कभी ऊपर है आती ।

पहले तो जब उसे अलक ही दिये दिखाई ,
भ्रम सिवार का हुआ, दृष्टि फिर से दौड़ाई
तब निश्चय कर सका,—अरे यह कोई नारी
पड़ प्रवाह मे वही जा रही है बेचारी !
किस घर की सुख-शान्ति लूट, कर दिया अँधेरा ,
हत्यारी, अब कौन पिये यह पानी तेरा ?
बिना हिचक वह कूद पड़ा वैसा ही धमसे ;
ऊपर छींटे उड़े । शक्ति सब अन्तरतम से
संग्रह कर वह चला; काटकर वह खर धारा ।
लौटा जब उस देह-सहित तब श्रम का मारा
बालू पर गिर पड़ा हाँप कर । इधर उधर से
लोग वहाँ आ जुटे दौड़ कर खेतो पर से ।
नारी थी निस्पन्द, नहीं चलती थी नाड़ी ।
चुआ रही थी नीर देह पर चिपकी साड़ी ;
वह भी हिलती न थी समीरण के स्पन्दन से ।
छिटक रही थी किन्तु ज्योति-सी उसके तन से ।

वैसी ही तब उसे छोड़ वह दौड़ा आया ;

बड़ी देर में पाता यहाँ डॉक्टर का पाया।
पर डॉक्टर सुन सके न उससे पूरा विवरण;
थोड़े में सब समझ, टोक कर बोले तत्क्षण—
"जोती तेरे लिए अभी तक होगी क्या वह?
जा थाने में, वहीं सुनाना सब ब्योरा यह।"

आने का उत्साह-वेग निज खोकर सारा,
लौटा वह चुपचाप जुए में हो ज्यों हारा।
पर तुरन्त ही नये दाँव रखने के बल पर
पीछे वह फिर मुड़ा, चार-छै ही पद चल कर।
बोला—"मुझको नहीं मरी-सी लगती है वह,
सोने को हो, किन्तु अभी कुछ जगती है वह।
हूँ गरीब मैं, किन्तु भेट कुछ कर ही दूँगा,
चलें आप, उपकार जन्म भर मैं मानूँगा।"

"तू देगा कुछ हमें?"—बिगड़ कर डॉक्टर बोले—
"दे सकने के योग्य अरे पहले हो तो ले।"

एक दाँव पर लगा शेष-धन अपना सारा ,
धीरे-से हो गया ओट में वह बेचारा ।

३

टेबुल पर था लैम्प रोशनी उसकी तीखी ,
आँखों को हो रही ज्ञात थी शत्रु-सरीखी ।
डॉक्टर ने निज ओर एक अखबार लगाया ,
अपने ऊपर स्वयं डालकर तम को छाया !
इसी समय वह तिमिर अचानक दुगुना करके ,
नौकर आया वहाँ, कक्ष क्रन्दन से भर के ।
डॉक्टर घबरा उठे—"हुआ रे क्या, कुछ कह तो ?"
"सर्वनाश हो गया, कहूँ क्या ?" कह कर वह तो
और अधिक रो उठा । किन्तु पूछा फिर फिर जब
बता सका वह हाल, पीट कर अपना सिर तब—
"डूब मालकिन गई, नाव से सहसा गिरकर ?"
वज्रपात-सा हुआ अचानक ही डॉक्टर पर ।

आर्द्रा

निर्दयता से पीट उठे विक्षिप्त हृदय वे,
दौड़ पडे फिर नदी ओर को उसी समय वे।
कहीं अभी मिल जाय वहीं उसका जीवित शव
दब पैरों से पतित पत्र कर उठे करुण रव!

श्रावण कृष्ण
९-'८४

अबोध

आधी रात, पुञ्जीभूत तम से भरी हुई,
सन्न, किसी डर से डरी हुई,
पाकर न इष्ट मग,
पग को उठाकर भी रखती नहीं थी डग!

किन्तु जानकी की माँ सकी न टाल,
क्षण काल
निज चिरयात्रा। विना जाने देश के लिए
चली गई युग्म नेत्र बन्द किये।
उस तमसा का मर्म-भेद कर,
घोर तर शान्ति-समुच्छेदकर,
हाहाकर घर में हुआ नया;
निशि का अटूट वह मौन व्रत टूट गया।

किन्तु यह सारा हाल,
जानकी न जान सकी, बेखबर सोती हुई।
जागी जब प्रातःकाल,
हेतु कुछ जानें बिना शङ्कित-सी होती हुई।
"माँ, माँ" कह,
रो उठी तुरन्त वह।

पोछ निज नेत्र-नीर अञ्चल के पट से,
जीजी गई उसके समीप उठ झट-से।
ज्यों त्यों कर मन को कड़ा किया,
और पुचकार उसे गोद में उठा लिया।

एकाएक अर्थी पर
माँ को पड़ी देखकर,
जीजी की गोदी से कूद पड़ने के लिए,
करके करुण रोर
रोकर लगाने लगी पूरा जोर।
"जाते है कहाँ वे अरे माँ को लिये!

मुझको इसी पर बिठा दे; अरी जीजी कह ,
खटिया-सी कैसी यह !
छोड़ती नहीं क्यो मुझे ,
देख, अभी माँ से पिटवाऊँ तुझे ।
हा हा करती हूँ, देख आने दे ,
जीजो अरी, छोड़ मुझे माँ के साथ जाने दे ।"

किन्तु हाय ! जीजी जकड़े ही रही उसको ।
छाती से लगा के पकड़े ही रही उसको ।
बस वह रोती ही रही वहाँ ,
जान भी सकी न यह--माँ चली गई कहाँ !

श्रावण शुक्ल
६-'८४

वञ्चित

चढ़कर दूहों पर, खड्डों में उतरके ,
वक्र पथ सौ सौ पार करके ,
घूम-फिर हिंस्र जन्तुओं से भरी झाड़ियाँ ,
छान डालीं दुर्गम पहाड़ियाँ।
किन्तु जिसकी थी चाह ,
पारस मिला न आह !

अन्ध कारागार में से छूट कर ,
ऊपर से टूट कर ,
हर-हर-नादिनी
दौड़ती हुई-सी जहाँ बहती थी ह्लादिनी ;
पत्थरों के साथ टकराती हुई ,
विजन वनों में बल खाती हुई ,
अपने किनारे आप ही थपेड़ ,

भूपर गिराती हुई—
ऊँचे पेड़ ;
दूर तक घूम घूम खोज खोज मैं थका ,
पारस वहाँ भी हा ! न पा सका ।

क्षुब्ध, रुद्र
जान पड़ता था जहाँ भीषण महा समुद्र ;
अन्त-हीन यात्रा में भटकके ,
लहरें भुजङ्गिनी-सी उठ फुफकार कर ,
पार पर
क्रोध-भरी फन-सा पटकके ,
त्रस्त करती थीं जहाँ ,
रात-दिन खोजता हुआ ही वहाँ
घूमता फिरा मैं भूल भूख-प्यास ,
छिन्नपद, छिन्नवास ।
किन्तु वह रत्नाकर
अन्त में प्रतीत हुआ शंख-शुक्तियों का घर ।
प्यासा ही रहा मैं वहाँ ,

जान भी सका न यह पारस मिलेगा कहाँ।

करके प्रयत्न सभी हार के,
अन्त में मैं लौटा, झख मार के।
इतने दिनों की तपश्चर्या कड़ी,
जीवन की साधना कठोर यह ऐसी बड़ी
निष्फल हुई यों हाय!
बैठ गया मेरा मन भग्नप्राय।

एक दिन अतल तड़ाग के किनारे क्लान्त
बैठा हुआ था मैं श्रान्त।
आस-पास दूर तक शस्य-भरे,
शोभन, हरे-हरे
खेत लहराते थे;
डालों के हिंडोरों पर
बैठे हुए विविध विहङ्ग वर
कल-कल-कूजन सुनाते थे।
उठती तरंगें थीं सुनीर में

सन सन शब्द था समीर में ;
ऊपर सुनील महाकाश था ;
भूपर तड़ाग मे भी वैसा ही विभास था ।

पत्थरो की सीढ़ी पर सुश्री-भरी
स्नान कर बैठी थी अपूर्व एक सुन्दरी ।
भींगा हुआ वस्त्र ही थी पहने ;
धारण किये हुए सुवर्ण-रंग ;
अङ्ग अङ्ग
उसके बने थे स्वयं गहने !
कलित कपोलों पर छूटे हुए केशदाम
हिल-डुल क्रीड़ा करते थे कान्त कान्तिधाम ।
उनमें से चूते हुए वारि-विन्दु झलमल
शोभा सरसाते थे ,
प्रति पल
नये नये मोती प्रकटाते थे ।
बायाँ पैर नीचे लटकाये नील नीर पर ,
दायाँ पैर रक्खे हुए सीढ़ी के प्रतीर पर ,

अपने नुकीले नेत्र नीचे किये ,
पत्थर की बट्टी हाथ में लिए
एड़ी मलती थी वह बार बार पानी डाल ।
एकाएक हो गया विचित्रतर मेरा हाल !
काँप उठा सारा तन सहसा उसे निहार ,
बार बार
देखी वह बट्टी जब दृष्टि फेंक ,
संशय रहा न नेक,—
यत्न सब कर कर
खोजता फिरा मैं जिसे जन्म भर
पारस वही है, यह है वही ।
मेरी तपःसाधना का श्रेष्ठ फल है यही ।

छोड़ निज ग्राम-गेह ,
तप में तपाके देह
रात-दिन तेरा ध्यान ही किये ,
हे सुरत्न, तेरे लिए

घूमा फिरा दूर दूर कितना कहाँ कहाँ,
तू तो अरे, था समीप ही यहाँ!

होने लगा मस्तक विघूर्णमान;
रत्न यह अतुल महा महान
हस्तगत कैसे कर पाऊँ मैं?
लक्ष्मि, क्या उठेगी न तू साङ्ग निज स्नान कर,
कब तक बैठी ही रहेगी इसी स्थान पर?
पैर मलती तू और मैं हूँ हाथ मलता,
पल पल का भी है विलम्ब मुझे खलता।
छोड़, अरी छोड़, इसे छाती से लगाऊँ मैं!

एकाएक कर के समाप्त काम,
अविराम
फेंक दिया उसने सुरत्न बीच जल में।
हँसता हुआ-सा, व्यङ्ग्य-नाद कर,
—डाल मनो पानी उस मेरे महाल्हाद पर—

डूबा वह सत्वर अतल में !

वार वार
छाती पर घूँसा मार ;
जोर से मैं चीख पड़ा ,—
"सुन्दरी, अनर्थ यह कैसा किया तूने वड़ा ?
तेरे हाथ में था रत्न जो अभी ,
त्रिभुवन की श्री सभी
उसके समक्ष थी नितान्त हेय
पारस निरुपमेय
फेंक दिया तूने अरी क्यो अथाह जल में ?
कैसा सर्वनाश किया तूने एक पल में !"

क्षण भर मौन रह ,
नारी हँसी उच्च अट्टहास से ,
और भी प्रदीप्त दन्तपंक्ति के प्रकाश से ,
बोली वह ,—

वञ्चित

"दोष किसे देता है अरे अपात्र ?
मेरे लिए तो था वह लोष्ट मात्र ।
तू ही जान-बूझ के छला गया ,
तेरे हाथ से ही यह रत्न है चला गया ।"

श्रावण शुक्ल
९-'८४

खादी की चादर

खादी की वह मोटी चादर
नहीं चित्त को भाती थी ;
अनमिल जन की अपनाहट-सी
रुचि से मेल न खाती थी ।
वह बेडौल बनावट उसकी
स्मृति में फिर फिर आती थी ;
छिलका-सा था अड़ा दाँत में
जीभ वहीं पर जाती थी ।

❀ ❀ ❀ ❀

बड़ी देर हो गई लोटते
फिर भी नींद नहीं आई ।
सहसा मुझे एक छाया-सी
सम्मुख ही दी दिखलाई ।

अर्द्धनिशा थी, विजन कक्ष था,
पूरा सन्नाटा छाया ;
आँखें मलीं, उसे फिर देखा,
ऐ ! यह है कैसी माया ।
अट्टहास-सा हुआ एकदम,
काँप उठी रजनी की शान्ति ।
सुना—"अरे डरते हो ? हूँ मैं,
नहीं हुई है तुमको भ्रान्ति ।
बदल रहे करवटें देर से,
बीत चुकी है आधी रात ;
जी में सोचा, घड़ी दो घड़ी
बैठ करूँ तुमसे कुछ बात ।"
मैंने उत्तर दिया—"कहो कुछ,
कटे समय यह किसी प्रकार ।"
"तो फिर कहूँ आप-बीती ही,
हो तुम सुनने को तैयार ?
चर्खा का सौभाग्य-सूर्य जब
अस्त हो गया असमय ही,

उसके लिए विशाल विश्व यह
    बस होगया, तमोमय ही।
हुआ सह-मरण ही उसका, वह
    बची रही कहने भर को ;
जीवित रही कठोर चिता में
    दहते ही रहने भर को।
सबके लिए अशुभ-सी दुस्सह
    विधि का शाप हुई घर में,
मरणेच्छा ही हुई शुभेच्छा
    उसके लिए भुवन भर में।
रात रात भर रोती रहती,
    तनिक विराम न लेती थी ;
तमसा के उपरान्त उषा भी
    उसे प्रकाश न देती थी।
घर के लोग कोसते जब तब
    उसे राक्षसी कह कह कर ;
उसकी वह छोटी बच्ची भी
    खलती सबको रह रह कर।

उसकी माँ से उसे तनिक भी
हीन नहीं वे बतलाते ;
अपना बाप खा गई, तब तो
उसे और मोटी पाते !

तीर्थाटन के लिए ले गये
घर के लोग उसे उस बार ;
दया दिखाई,—उस दुखिया का
कुछ तो हो परलोक-सुधार !
पर काशी मे बड़ी भीड़ थी ,
साथ अचानक छूट गया !
अबला की आशा का अन्तिम
सूक्ष्म-तन्तु भी टूट गया !
दिन भर बच्ची लिये गोद मे
घूमा की वह जहाँ तहाँ ;
किन्तु हाय ! घर के लोगों का
पता नहीं पा सकी वहाँ ।

पैसे थे कुछ पास, उन्हींसे
बच्ची को कुछ खिला दिया।
उतर घाट से गंगाजी का
पावन जल ही आप पिया।

सन्ध्या हुई, उदय तारों का
हुआ नभस्थल में क्रम से।
गंगा-तीर, नगर, प्रान्तर सब
हुए समाच्छादित तम से।
तट पर एक वृक्ष के नीचे
बैठ गई विधि की मारी।
थी सो गई गोद में बच्ची,
रोती रोती बेचारी।
दूर अदृश्य किसी नौका में
नाच हो रहा था लय-सह;
नूपुर-नाद, ठनक ठेके की
'वाह, वाह!' का रव रह रह।

किसी उच्च देवालय पर से
गूँज रही थी शहनाई ;
आसपास सुरसरि-धारा की
कल कल कल ध्वनि थी छाई ।
यहाँ अकेली हूँ बस मैं ही—
हुआ उसे अनुभव प्रत्यक्ष ।
उसके लिए विजन वन ही था
बहु-जन-संख्यक नगर समक्ष ;
चुरा चुका था जो अपना मुँह ,
नैश तिमिर का परदा डाल ।
हूक उठी उसके भीतर से ,
वेग न रुक, सह सकी सँभाल ।
पटक दिया अपना सिर नीचे ,
हृदय खोल कर वह रोई ।
“मुझ अभागिनी का सहाय क्या
कहीं नहीं होगा कोई ?
मेरी तृष्णा विश्व भर मेरा ,
हाय ! कहाँ अब जाऊँ मैं ?

मुझ तक ही मेरी सीमा है,
हाथ कहाँ फैलाऊँ मै ?
छूटा गाँव, गेह भी छूटा,
माता-पिता सभी छूटे ;
छूटे नहीं प्राण ही मेरे,
जग के सब नाते टूटे ।
आ जा, अरी मौत ! आ जा तू,
ऐसी चाह किसे तेरी ?
आकर अरी बचा जा मुझको,
सौत हुई तू क्यो मेरी ?
किस अभाग्य से तू ओ बेटी,
हुई हाय ! मेरी बेटी !
नहीं कहीं भी ठौर रहा हा !
यहाँ रेत पर तू लेटी !
रट-सी रही लगाये दिन भर
कह कह 'चल माँ, घर को चल'
नहीं जानती है अभागिनी,
हुआ यही घर है तरु-तल ।

विश्वनाथ, हा विश्वनाथ ! तुम
हो यथार्थ ही पत्थर के ?
सम्मुख ही तलफाओगे क्या
मुझे निस्सहाया करके ?
क्या पिट गया दिवाला, जिससे
तूने भी मुहँ है फेरा ;
अरी अन्नपूर्णा माता, क्या
रहा नाम भर ही तेरा ?"

बच्ची एकाएक रो उठी
इसी समय सोते सोते।
लगा उसे छाती से उसने
चूमा स्थिर होते होते।
बिना कहे कह दिया कि—'रो मत,
हूँ मैं तो पृथ्वीतल पर'।
मातृ-मूर्ति की आभा झलकी
उसके मृदु मुख-मण्डल पर।

वहा पवन गङ्गा-प्रवाह पर
गहरी एक साँस भरके।
तट के उस पीपल के पत्ते
सिहर उठे मर्मर करके।
ऊपर उलझे हुए तिमिर में
झिलमिल होते थे तारे।
ज्यों के त्यों निस्तब्ध खड़े थे
उच्च भवन-आलय सारे!

तम की घनी गाढ़ता अब तक
वैसी ही थी घटी न थी।
चहके अभी न थे पक्षी भी,
प्राची में पौ फटी न थी।
कौशिक वस्त्र डाल कन्धे पर,
कहते हुए 'शम्भु हर हर!'
इसी समय प्रति दिन आते थे
पण्डितजी गङ्गा-तट पर।

चलते चलते खड़े हो गये,
पाकर वृक्ष-तले आहट;
'है यह कौन यहाँ ?'—बोले वे
झुक कर कुछ आगे को झट।
सुनकर आत्म-कथा चम्पा की
आँखें उनकी हुईं स-जल;
उमड़ उठी बूँदों में गङ्गा
देकर शुचि स्नान का फल!
बोले—'बचा लिया दुष्टों से
गङ्गा माँ ने करुणा कर;
अब इस तरह न घबरा बेटी,
चलकर रह तू मेरे घर।'
वस्त्र पास में न था और, पर
चम्पा ने भी स्नान किया;
क्या था वहाँ, नेत्र-जल की ही
दो बूँदों का दान दिया।
चलते समय अश्रु-धारा से
भीगा वस्त्र भिगोकर फिर,

वह अभागिनी आर्द्रा अबला :
बोली यों करके नत शिर—
'गङ्गा मैया, इसीलिये क्या
मुझे दूर से था खींचा ?
क्यों उखाड़ देने ही को हा !
आशा-लतिका को सींचा ?
तू समर्थ, जो करे ठीक है,
रोक सकेगा कौन तुझे,
यहीं घाट पर हाय ! विप्र का
दिलवाना था दान मुझे ?"

धर्म-निरत पण्डितजी के घर
चम्पा ने आश्रय पाया ;
पर दुरन्त दुर्भाग्य वहाँ भी
उसके साथ साथ आया ।
बच्ची का तन तप्त देख कर
अन्तरतर उसका दहला ,

घबरा उठी, अधीर हो उठी
　　यद्यपि प्रहार न था पहला।
रात हुई, बढ़ गई अत्यधिक
　　बच्ची के ज्वर की ज्वाला ;
उस ज्वाला में न था ज्योति-कण,
　　बस, तम ही तम था काला।
चम्पा मुँह के पास ले गई,
　　दूध कटोरी में भर के ;
'मारो मत !' कह चौंक पड़ी वह
　　दूध गिरा कर ठोकर से।
तन का ताप जलाकर तन को
　　होने लगा शान्त प्रति पल ;
आवश्यकता जान पड़ी जब
　　तब वह हाय ! हुआ शीतल !
रात्रि शेष कुछ थी, बच्ची ने
　　छोड़ी जब निज अन्तिम साँस ;
गिरी धड़ाम भूमि पर चम्पा,
　　चुभी हृदय में गहरी गाँस।

पण्डितजी को खेद हुआ— हा !
व्यर्थ कलङ्क लिया सिर पर ।
करने लगे आर्द्र उनको भी
अश्रु दृगों से फिर-फिर कर ।
दे देकर आश्वास उन्होंने
करना चाहा शान्त उसे ;
करने लगा शोक तर तर ही
पर नितान्त उद्भ्रान्त उसे ।
चिल्ला उठी—'अरी ओ बेटी ,
मुझको छोड़ चली तू भी !
पहले ही सब तोड़ चुके थे
नाता तोड़ चली तू भी ।
क्यों न जनमते ही री ! मैंने
तेरा गला घोट डाला ;
तुझ जैसे भी महाशत्रु को
दूध पिलाकर क्यों पाला ?'
शव को लोग उठाने आये
तब वह चिपट गई उससे ।

नहीं छोड़ना चाहा उसको ,
कस कर लिपट गई उससे ।
छीन ले गये मृत को जब वे
दौड़ी वह गंगा की ओर ।
बड़ी कठिनता से सँभालकर
पकड़ा उसे लगा के जोर
'अच्छा, मुझे मार ही डालो
नहीं यहाँ से जाऊँगी ।
और छोड़ दो, पाऊँगी तो
यहीं शान्ति चिर पाऊँगी ।
बड़ा खेल होगा आहा हा !
जब तुम मुझे भगाओगे ,
नहीं टलूँगी मैं तिल भर भी ,
सब मिलकर पछताओगे !'

समय जा रहा था वैसा ही ,
नहीं रुक सका वह पल भर ।

बढ़ता गया प्रभाकर नभ में
अपनी वही चाल चलकर।
थी वैसी ही भीड़ पथों पर,
था वैसा ही यातायात।
कार-बार चल रहे सभी थे,
मानो हुई न हो कुछ बात।

पण्डितजी ने कहा बहुत कुछ,
उसने जल भी नहीं छुआ।
'आश्वासन, उपदेश, सांत्वना,
डाँट-डपट सब व्यर्थ हुआ।
संध्या के सुवर्ण मेघों में
जाकर अस्त हुआ दिनकर।
सब अशान्त कोलाहल जग का
होने लगा शान्त तर तर।
भग्न-हृदय की करुण हूक ही
उस सन्नाटे में भर के,

फैल गई पृथ्वी से नभ तक
    और सभीका लय करके।
'बेटी, अच्छा किया, गई तू,
    तू तो कष्टों से छूटी !
अच्छा हुआ, काल ने मेरी
    बची-खुची निधि भी लूटी।
बस अब ठीक हुआ, डर मुझको
    किसी चोट का नहीं रहा।
दीपक बुझ ही गया, काम अब
    किसी ओट का नहीं रहा।
किन्तु अरे निष्ठुरे, तनिक तो
    दूध यहाँ पीती जाती ;
तू भूखी ही गई हाय रे !
    जलती है मेरी छाती।
अथवा यहाँ, चैत्र में, द्विज का
    दान ग्रहण करती कैसे ?
औरों का भिक्षा-धन लेकर
    शान्ति-सहित मरती कैसे ?

कौन लोक में पहुँच चुकी तू,
पता नहीं हा! गई कहाँ;
तो फिर क्यों फिर-फिर आ आकर
भूल दृगों में रही यहाँ?
मुरझा गया भूख से मुख है;
कौन खिलावेगा तुझको?
बता, वहाँ है कौन हाय! जो
दूध पिलावेगा तुझको।
अरे कहीं कोई है ऐसा,—
हो उसका सौभाग्य अचल,
तुझ तक पहुँचा सके आज जो
एक घूँट पय ही केवल।
बिना मजूरी टहल करूँगी
जीवन भर उसके घर मैं।
कर दूँगी उस एक घूँट पर
सब कुछ आज निछावर मैं।'

इस प्रकार ही धीरे-धीरे
रात बहुत कुछ बीत गई ;
सहसा चौंक पड़ी वह मानो—
मिली उसे कुछ वस्तु नई।
कोने में पूनी रक्खी थीं
टिके हुए चरखे के पास ;
उठा उन्हें हलके हाथों से—
ठोंका, लेकर गहरी श्वास।
थोड़ी देर बाद ही, क्रम से
चरखा चलने लगा वहाँ।
पण्डितजी तो जगते ही थे,
उठ बैठे—क्या हुआ कहाँ!
देखा—आगे चरखा रख कर
चम्पा कात रही है सूत।
धो-सा दिया करुण-करुणा ने
आनन उसका पावन-पूत।

क्या सो गये ? नहीं सुनते हो ?
उसी सूत से ही बनकर ,
चादर मैं, तैयार हुई हूँ ,
घूम-घाम कितने ही घर ।
हाँ, तो शेष-कथा भी कह दूँ ,
मुझे और जो कुछ है ज्ञात ।
सूत कातती रही वहाँ वह
जम कर बैठ कई दिन-रात ।
देख उसे कहते सब कोई—
मति है बिगड़ गई इसकी ।
चाहा गया, किन्तु, आसन से
नहीं जरा भी वह खिसकी ।
भोजन वहीं पड़ा रह जाता ,
नहीं ध्यान भी वह देती ।
उठती जब तो बस थोड़ा-सा
गङ्गाजल ही पी लेती ।
ओ तपस्विनी, क्या विचार कर
लिया घोर ऐसा व्रत है ?

नहीं लौट कर आ सकती वह
जो मृत हुआ, हुआ मृत है।

उस दिन सूत इकट्ठा करके
रक्खा उसने अपने पास।
फैल गया अतिरिक्त दीप्तिमय
आँखों मे उत्कट उल्लास।
वह सब पटक दिया ले जाकर
पण्डितजी के आगे झट;
'दो आने पैसे दो!' कह कर
अट्टहास कर उठी विकट।
देना अधिक उन्होंने चाहा—
'अधिक मूल्य का होगा यह।'
ज्यादा पैसे वहीं फेंक कह
झट-से दौड़ गई पर वह।

तनिक दूर ही, चौराहे पर
दूध-दही की थी दूकान।

रुकी वहाँ उसके आगे वह
झंझा की-सी द्रुत गतिमान।
'दूध हमें दो, दो आने का'
कह कर फेंक दिये पैसे।
उत्तर मिला—'तीन आने में
भरूँ सकोरे दो ऐसे ?'
बोली वह—'मुझको जल्दी है,
एक सकोरा ही भर दो।'
लेकर दूध तुरन्त बढ़ गई
पैसे छोड़ वहाँ पर दो !

खबर नहीं थी उसे तनिक भी,
होता है क्या कहाँ किधर।
बिना रुके ही सीध बाँध वह
पहुँची गंगा के तट पर।
छिपा हुआ था अपर पार के
झुरमुट में अस्तंगत रवि।

कुछ किरणें ही पत्र-पथों से
      छींट रही थीं स्वर्ण-छवि।
उतर सीढ़ियों से नीचे को,
      आस-पास उसने ताका।
सन्नाटा था वहाँ घाट पर
      संध्या की नीरवता का।
इधर-उधर आते जाते थे
      फैले-फूटे ही कुछ जन।
किया प्रणाम भक्ति युत उसने
      सुरसरि को हो विनत-वदन।
'मेरी बेटी मुझे छोड़ माँ,
      लेटी है तेरे तल में।
अब तक वह प्यासी ही है हा!
      रह कर भी अथाह जल में!
यह थोड़ा-सा दूध उसी तक
      पहुँचा दे, इतना ही कर!
नहीं और कुछ माँगूँगी मैं
      दे बस, यह इतना ही वर।

उसकी बची हड्डियों तक ही
तू पहुँचा देगी यदि यह ;
तृप्ति तनिक तो पा ही लेगी
मेरी नन्हीं बच्ची वह !'
फिर उसने वह पय प्रवाह में
धीरे-धीरे बहा दिया ।
हाथ उठा लहरों ने उसको
झट अपने में मिला लिया ।
ऊपर उठ कर ताक रही थी
समुदित नव शशि की लेखा
चम्पा कहाँ गई फिर तब से ,
नहीं किसी जन ने देखा ।"

❀ ❀ ❀ ❀

जाग पड़ा मै उषःकाल के
विहग वरो के सुस्वर से ।
वह 'बेडौल बुनी' चादर ही
ओढ़े था मै ऊपर से ।

चम्पा के करुणार्द्र स्वरों में
 'हो सौभाग्य अचल' कह कह,
मारुत उसमें उठा रहा था
 गंगा की लहरें रह रह!

भाद्र कृष्ण
११-'८४

'अब न करूँगी ऐसा'

बड़े बड़े बालों वाला,
छोटे कद का, सुन्दर, शोभन—
कुत्ता था मैंने पाला।
उसके लिए विविध व्यञ्जन बनवाता,
तृप्त नहीं कर देता उसको
तब तक तृप्ति नहीं पाता।
जता जताकर प्यार, गोद में ले लेकर,
मृदुल थपकियाँ दे देकर,
उसे खिलाकर अपना हृदय खिलाता।

आने को थे उस दिन एक सुहृद मेरे।
उठकर बड़े सवेरे
मैं फँस गया उसी खटपट में;—
भूल गया कुत्ते को भी उस स्वागत के झंझट में।

चढ़ आया दिन एक पहर ;
ग्रीष्म काल का भीष्म दिवाकर
होने लगा प्रचण्ड, प्रखर ।
वारं वार
क्रुद्ध प्रभञ्जन करने लगा विकट चीत्कार ;
धूल-धूसरित, साँ साँ साँ करता आता ,
लगे किवाड़ो को खटाक से
खोल जोर से टकराता ।
करता हुआ किवाड़ वन्द मैं चौंक पड़ा ।
अरे, अरे, यह कैसा हुआ अनर्थ बड़ा !
इस प्रलयङ्कर ऊष्मा का मारा ,
हाँफ रहा है मेरा कुत्ता वेचारा ।
छज्जे के नीचे कोने में—
सिमटी पड़ी जहाँ छाया ,
पड़ा वहीं यह, फिर फिर जीभ निकाल ,
हो रहा है कैसा वेहाल ।
अरे, किसीने इसे अभी तक जल भी नहीं पिलाया ?
कहाँ गई वह मुलिया लड़की छोटी ?

छोटी नहीं, बड़ी खोटी ,—
मार मारकर खूब मरम्मत करके
अभी हटा दूंगा मैं उसको घर से।
अब तक मेरे कुत्ते को क्यों उसने नहीं खिलाया ?
कहीं बाहरी जन आवे ,
अब तक भी ऐसे कुत्ते को—
भूखा पड़ा हुआ पावे ,
तो वह क्या सोचेगा, होगा उसका कैसा भाव।
मोहन, यहाँ पकड़ तो उसको लाव !

नौकर तत्परता दिखलाकर
जाकर
उसे घसीट, खींच ले आया।
कान पकड़ कर उसने उसके थप्पड़ एक जमाया।
पीछे हटती हुई जोर से रोती ;
भय से विह्वल होती ,
कहती थी मुलिया नौकर से—'अब ऐसा न करूँगी।
भैया मुझे छोड़ दो,—पानी अभी भरूँगी।'

उबल पड़ा मैं ;
नहीं सँभाल सका वह अपना क्रोध कड़ा मैं।
द्विगुण ताप से मेरा मुख था लाल,
स्वेद-सिक्त था भाल।
प्रतिक्षण
पावक के कण
बरस रहे थे आँखों से विकराल।
सुन कर मेरा गर्जन
तर्जन
धीरे से बोली वह कम्पित स्वर से—
"आ रहे थे मुझको चक्कर-से।
नहीं था मेरे घर में नाज ;
बिना कलेवा किये इसीसे आज
आई थी मैं घर से।
मैंने नहीं पिया था जल भी।
नहीं मिली थी मुझे मजूरी कल भी।
कुत्ते को नहलाती हूँ मैं, अब न करूँगी ऐसा।"

खड़ा रह गया मैं जैसे का तैसा।
उसने रस्सी-डोल हाथ में लेकर,
पास कुएँ पर
पानी भर-भर,
कुत्ते को नहलाया।
मेरे मुहँ पर वाक्य न कोई आया।
आह! उसका वह स्वर था कैसा,—
'अब न करूँगी ऐसा!'

आश्विन शुक्ल
६–'८४

वन्दी

[कारागार । एक उच्चवशी वन्दी और उससे भेट
करने के लिए आया हुआ वर्षों का विछुड़ा,
उसका एक वाल्य-वन्धु]

वन्धु

इतने दिनो के वाद ,
देख कर मित्र, तुम्हें आज इस वेश में ,
कठिन निवेश में—
प्रेमोत्सुक उर का प्रमोदोन्माद
पलट गया है भ्रान्ति-क्लान्ति-अवसाद में ,
विषम विषाद में ।
आज पहली ही वार

मिल कर तुमने किया है मर्म पै प्रहार।
होकर भी धर्म-धीर, चोर-डाकुओं के सङ्ग
कैसे रहते हो इस कारागार में अरे!
कोठरी है कैसी तङ्ग,
रात को इसीमें रहते हो हरे!
दिन में भी रहती यहाँ है रात।
तम मे ही छिपता-सा आता है यहाँ प्रभात।
रहके भी घोरतम-वेष्टन में,
आधा ही रहा है गात।
वेष्टन भी वेष्टित यहाँ है बड़े;
तालों पर ताले पड़े;
कैसे कल पड़ती तुम्हें है यहाँ मन में?
रुद्ध-बद्ध जीवन में
कौन-सा प्रवाह, सुख, शान्ति है?
शान्ति नहीं भाई, यह भ्रान्ति,–भूरि भ्रान्ति है।
देखो, हो गया क्या हाल,
कड़े कड़े रूखे बाल
आनन को घेर कर कैसे बढ़ आये हैं;—

मुहॅ पर घोर कारागार-सा बनाये हैं !
पीले पड़े अङ्ग ।—हुए पीताम्बर-धारी हौ ?
पागल अवश्य तुम भारी हौ ।
मूर्खता महान यह छोड़ो अरे !
अब भी ये लौह-शृङ्खलाएँ है तुम्हारे हाथ ;
आप ही उतार इन्हे तोड़ो अरे !
रह कर लौह-साथ
उसकी कठोरता करो न यह अङ्गीकार ;
अपने ही आप पै करो न आप अत्याचार ।

वन्दी

भाई, क्या करूँ मैं भ्रान्त मन को ,
जो गले लगा रहा है वन्धनो के वन्धन को ?
पाता यह सुख ही ,
मर्दित हो पीडात्रस्त, रोगग्रस्त जन-सा ।
निखिल भुवन का ,

आता तुम्हे दृष्टि यहाँ केवल क्या दुख ही ?
घोर अन्धकारावृता ,
तमसा के पीछे ही प्रसन्न महा ,
जागृता—
उषा का कल-कूजन जो हो रहा ,
दृष्टि फेंक
देखो उसको भी ओर भाई नेंक।
रोगी को दवा के मिष ,
विषम विषाक्त विष
तुम यदि आप ही पिलाओगे ,
रोग ही अकेला नहीं, रोगी भी गँवाओगे।
रोग यदि रोग ही है, मृत्यु नहीं ,
रोगी को विरोग कर देगा आप ;
सारा क्लेश-ताप हर लेगा आप।
रहने अँधेरे में मुझे दो यहीं।
मिट्टी के भीतर से बीज को निकाल कर ,
ऊपर खुले में कहीं डाल कर ,
क्या उसे बचाया चाहते हो मृत्यु-मुख से ?

मिलने उसे दो वहीं मृत्तिका मे सुख से।
एक दिन अकस्मात
चलते ही चलते स्वतन्त्र उस पथ पर,
ठिठक पड़ोगे तुम घूम कर,—
लाता है कहाँ से यह सुरभि प्रभात-वात!
डाल के विमुग्ध दृष्टि,
जब तुम देखोगे सुरम्य-शुचि-स्निग्ध सृष्टि,
विटपो की मञ्जु मञ्जु पल्लव अवलियाँ,
दन्त-पंक्तियो में हास-राशि भर
फूलती हुई प्रसून-कलियाँ;
तब तुम चौंककर
सोचोगे,—यही क्या बीज मूर्ख वह है महान?
नहीं, नहीं भाई, तव ऊँचा ज्ञान
मुझको अभीष्ट, नहीं,
पागल?—हाँ पागल ही, रहने मुझे दो यहीं।

वन्धु

अपनी चिता के ही प्रकाश में

देखा चाहते हो तुम कान्त कलियों का हास !
घोर लौह-पाश में
रुद्ध है तुम्हारा जहाँ प्राणश्वास ,
सूँघा वहाँ चाहते हो कल्पित कुसुम-गन्ध ;
नेत्र रहते भी अन्ध !
अपने प्रकाश में प्रकाशित विनाश-दीप ,
प्रज्वलित है समीप ;
उस पर गिरके पतङ्ग-सम ,
अपने को चन्दन से चर्चित करोगे तुम !
अन्ध-बन्दी-कक्ष-कूप अन्धतम ,
इसमें से शुद्ध नवजीवन भरोगे तुम !
भाई अरे, मानों बात ,
पातकों का पातक कठोर क्रूर आत्मघात ।
छोड़ कर व्यर्थ लाज ,
अन्य सहयोगियों के नाम भर
बाल्य-बन्धु को ही बतला दो आज ।
विष-सा उगल कर ,
थोड़े में बचालो प्राण ।

राजकर्मचारी इसी बात पर
छोड़कर देंगे तुम्हे मुक्ति-दान।
सचमुच हो अनन्य
धन्य है तुम्हारे सहयोगी धन्य !
फाँस के तुम्हारा गला,
मौजे करते है कहीं।
चाहते है, केवल हाँ, हो यहाँ तुम्हारा भला ;
और कुछ भी नहीं।

अच्छा यह जान लिया,
वे सभी भले है—यह मान लिया।
तो क्या स्वर्णयोग उन्हे दोगे नहीं ?
वे भी तपें आग में ;
शुद्ध, शुचि त्याग, अनुराग में ;
जाँच भी क्या उनकी करोगे नहीं ?
यदि तुम मानते उन्हे हो मुक्त,
सचमुच ही तो तुम भ्रान्ति-युक्त।
अप्रकट अपने निवास मे

अपने ही हाथों से बनाके गूढ़ कारागार,
बद्ध उसमें है वे भली प्रकार।
बाहर की रश्मि के प्रकाश में,
सौ सौ आतपों का ताप है उन्हें।
मुक्त महाप्रकाश में,
साँस तक लेना पाप है उन्हें।
अपने जनों से स्वयं निज को विलुप्त कर,
अपनों को मुक्त जानते है वे;
तुच्छ जनों में भी राजगुप्तचर,
होकर सशंक मानते है वे।

वन्दी

बाते दिन दिन भर,
भाई, यहाँ सुननी जो पड़ती,
मँजी हुई-सी वे, तब मुख से, कठिनतर,
तीक्ष्ण शूल तुल्य इस उर में है गड़ती।

साँस रुँधती है, मुक्त वायु भी नहीं जहाँ,
कष्ट सह,—एक क्षण को ही सही,—
तुम प्रिय बन्धु-हित आये यहाँ;
मैं भी करता हूँ यही;
साथी-सुहृदों के लिए करके यहाँ निवास।
चिन्ता-भीति-क्लेश-त्रास,
वैसे ही यहाँ क्या कम;
तुम तो अरे, उन्हें करो न और भी विषम।
क्या यहाँ निषिद्ध है सभी प्रकार
और किसी बात तक का प्रवेश?
भाई-बन्धु और जननी का प्यार
आने नहीं पाता यहाँ रक्खे बिना छद्म-वेश?

बन्धु

ठीक कहा भाई, जननी का स्नेह
आने यहाँ पाता एक क्षण के लिए कहाँ,

तो तुम कदापि यहाँ होते नहीं ;
होता क्यों उजाड़ हो तुम्हारा गेह ?
वैभव तुम्हारा सब
जलकर भस्म हो गया है राज-रोष में।
भूमि, धन-धान्य तव सारा अब
हो गया विलीन राजकोष में।
लौह-शृङ्खलाओं में तुम्हीं हो नहीं बद्ध यहाँ,
सुदृढ़ बड़े बड़े,
उच्च तव हर्म्य में भी ताले पड़े;
प्रहरी जनों का घोर पहरा जहाँ तहाँ,
ऐसा ही कठोर कष्ट है वहाँ।

वन्दी

फिर फिर लौट, घूम, फिर कर
चोटी के लिए ही हाथ डालते हो सिर पर !
तुम तो बता दो यही,—आज कल माँ कहाँ ?

बन्धु

वाह, वाह !
भाई, तव मातृ-प्रेम है अथाह !
ढोंग अरे, ऐसा करते हो क्यों ?
मातृभक्ति का असत्य स्वाँग भरते हो क्यों ?
चाहते जरा भी यदि मातृदेश ,
होता यदि तुममें जरा भी पुण्य मातृप्रेम ,
तो तुम अवश्यमेव चाहे जहाँ जिसको
पूछ कर जान लेते—आज कल माँ कहाँ ।
ज्ञात नहीं किसको
आश्रय विहीन वे
हो गई हैं दीन-अति दीन-ये ।
ऊँचे महलों में रानी के समान जो ,
करती सदैव रहीं
शुभहस्त दान जो ,
आश्रय भी हाय ! उन्हें आज किसी ठौर नहीं ।
लौट कर आ गई तुम्हारे ननिहाल से ;

होकर सशंक राज-रोष विकराल से
मामा उन्हें रख न सके वहाँ।
यों ही घूमती हैं वे जहाँ तहाँ।
एक ठौर कैसे मैं बताऊँ भला—वे कहाँ?
कल से हैं मेरे यहाँ।
देख उन्हे चीन्ह सकता है कौन?
सिर लटकाये हुए जम कर बैठी मौन
रहती;
जोर से पुकारो कई बार जब,
चौंक एक बार तब—
उत्तर में 'हाँ–ना' भर कहतीं।
देह हुई क्षीण-सी,
दीप्ति भी हुई है कहीं लीन-सी।
देख उन्हें भीति जान पड़ती;
जान पड़ता है उन दीपित दृगों की राह,
प्रज्वलित जी की आह
ज्वालामुखी होकर अभी-सी है उभड़ती!
पास के ही कक्ष में पड़ा पड़ा

उनकी कराह सुनता मैं रहा सारी रात ।
दुःख उन्हें कैसा पड़ा ;
क्षण भर के भी लिए चैन नहीं होता ज्ञात ।
साँ साँ रात होती थी ;
आस पास सारी सृष्टि सोती थी ।
केवल उन्हींको न था शान्ति-लेश ।
शत्रु को भी हो न कभी ऐसा क्लेश ।
सीमाबद्ध कक्ष में तुम्हारी क्षुद्र कारा है ;
चारों ओर फैला हुआ पृथुल, असीमाकार ,
कारागार
माँ के लिए सारा विश्व—कारा—है ।

आई मन पोंछो या अश्रु-नीर :
ऐसा जड़ कौन जो कि ऐसे में न हो अधीर ?
ओम्, पाने दो वह [illegible] पद से ।
लेकिन छुटकारा इस पद से,—
पाते हो—पोंछो तो [illegible] मात-कष्ट है ।
पद हो,—इसे भी [illegible] सो दे [illegible] कष्ट है ।

अच्छा अब,—अब तो विचार लिया ?
कैसा मौन धार लिया,—
सोचते रहोगे और कब तक ?
होता है तुम्हारा यहाँ एक पल ,
तब तक
माँ के लिए होता वहाँ एक वर्ष अविचल ।

वन्दी

सोच लिया मैंने है भली प्रकार ।
जाग-सी उठी है हूक ,
छाती हुई जाती यह टूक टूक ,
सोच कर माँ की व्यथा, चिन्ता, वेदना अपार ।
धिक् धिक् बार बार मुझको ,
सहने पड़े माँ, कष्ट मेरे लिए तुझको ।
भाई मैं तुम्हारी बात मानूँगा ;—

कष्ट ही सहूँगा सभी मातृ-हित सुख से ।
मातृद्रोह मैं कभी न ठानूँगा ।
तुमने बचा लिया मुझे है मृत्यु-मुख से ।
अन्य साथियों के नाम
कुछ भी हो, खोलूँगा न मैं कभी ।
जैसे हो सकेगा मैं कलेजा थाम ,
अत्याचार, पीड़न, प्रहार सह लूँगा सभी ।
आज रो रही है एक मेरी माँ ;
कैसे मैं रुलाऊँ अब और बहुतेरी माँ ?
दुःख एक माँ का है असह्य मुझे इतना ;—
—अन्य साथियों का नाम ,
कैसे जानबूझ के फँसा दूँ भला ;—
होगा शत माओं का कराल क्लेश कितना ?
ओ माँ, आज मेरे लिए
हो गया है कैसा हाय ! मेरा हाल !
सर्व-श्रेष्ठ मेरा उपहार किन्तु तेरे लिए
है यही ज्वलन्त लाल पावक कणों की माल ।
पहन इसे ही तू .

अच्छा अब,—अब तो विचार लिया ?
कैसा मौन धार लिया,—
सोचते रहोगे और कब तक ?
होता है तुम्हारा यहाँ एक पल ,
तब तक
माँ के लिए होता वहाँ एक वर्ष अविचल ।

वन्दी

सोच लिया मैंने है भली प्रकार ।
जाग-सी उठी है हूक ,
छाती हुई जाती यह टूक टूक ,
सोच कर माँ की व्यथा, चिन्ता, वेदना अपार ।
धिक् धिक् बार बार मुझको ,
सहने पड़े माँ, कष्ट मेरे लिए तुमको ।
भाई मैं तुम्हारी बात मानूँगा ;—

कष्ट ही सहूँगा सभी मातृ-हित सुख से ।
मातृद्रोह मै कभी न ठानूँगा ।
तुमने बचा लिया मुझे है मृत्यु-मुख से ।
अन्य साथियो के नाम
कुछ भी हो, खोलूँगा न मै कभी ।
जैसे हो सकेगा मै कलेजा थाम ,
अत्याचार, पीड़न, प्रहार सह लूँगा सभी ।
आज रो रही है एक मेरी माँ ;
कैसे मै रुलाऊँ अब और बहुतेरी माँ ?
दुःख एक माँ का है असह्य मुझे इतना ;—
—अन्य साथियों का गला ,
कैसे जानबूझ के फँसा दूँ भला ,—
होगा शत माओ का कराल क्लेश कितना ?
ओ माँ, आज मेरे लिए
हो गया है कैसा हाय ! तेरा हाल !
सर्व-श्रेष्ठ मेरा उपहार किन्तु तेरे लिए
है यही ज्वलन्त तप्त पावक कणो की माल ।
पहन इसे ही तू ,

पुत्रो के निमित्त कर सहन इसे ही तू !
कितनों का कुशल किये है यह तेरा ताप ।
कालकूट का-सा घूँट पी के आप ,
औरों को जिला दे माँ ,
अमृत अनेकों को पिला दे माँ ।
जितना सहा है यह एक पुत्र के निमित्त ,
होकर प्रसन्न चित्त
सौ सौ तनयों में स्वयं बाँट दे उसे माँ, आज ।
माँ के हाथ मे ही मातृदोषी सुत की है लाज ।
कह तो चुका हूँ बन्धु, अब न टलूँगा मैं ;
ज्वाल-सा जलूँगा मैं ,—
प्रज्वलित होके दीप्त तर तर ,
हर्षोन्मत्त मत्त-नृत्य कर कर !
भस्मीभूत हूँगा किन्तु होम-रेणु हूँगा मैं ;—
ज्वाल-सा जलूँगा मै !

चिरगाँव
प्रबोधिनी—'८४